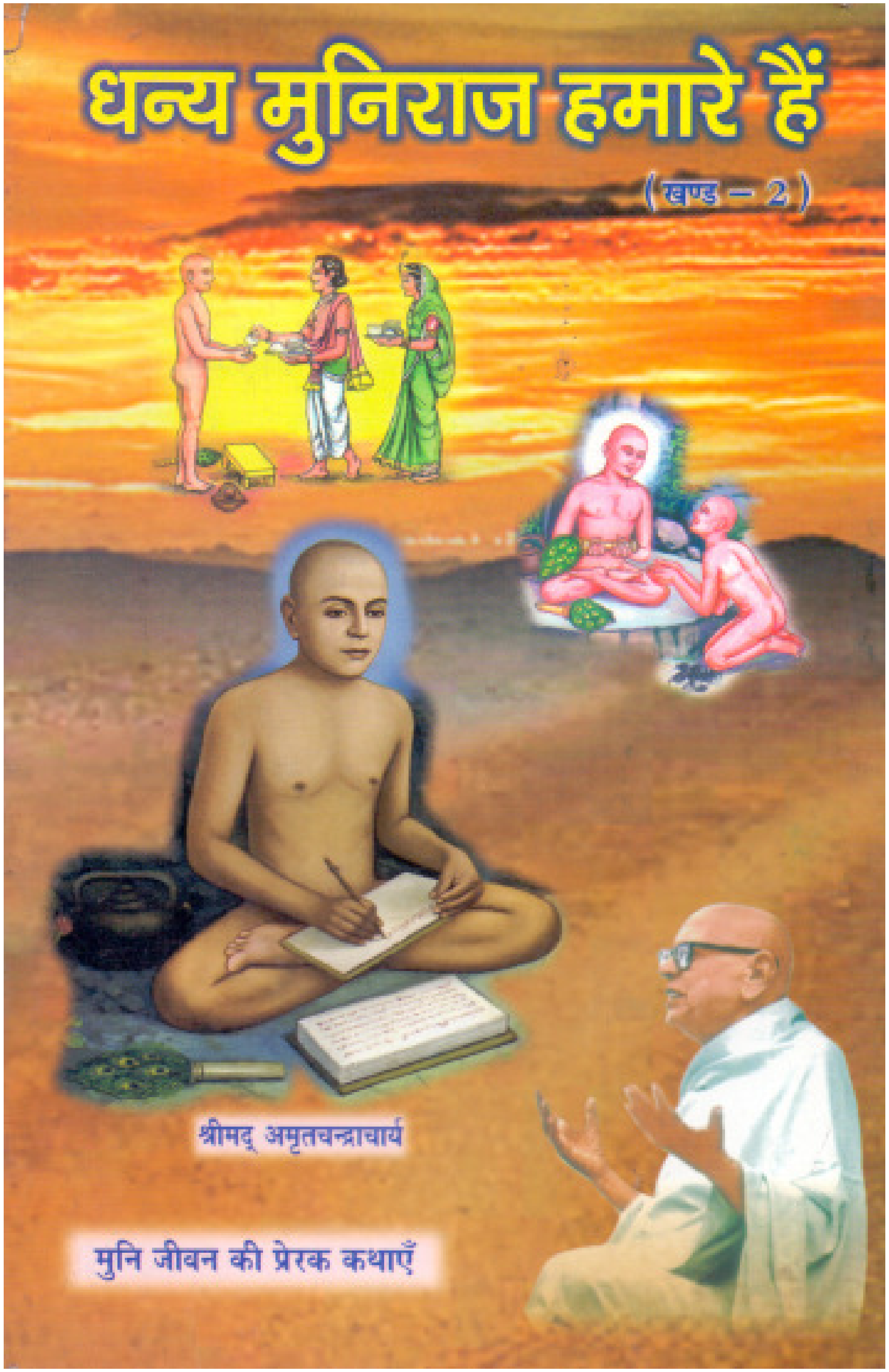


ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

# धन्य मुनिराज हमारे हैं

(मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ)

(खण्ड-२)

सङ्कलन एवं सम्पादन :
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :
चेतन जैन, कश्यप जैन
सुपुत्र श्रीमति अनीता अजितकुमार जैन
बड़ोदरा

प्रकाशक :
**तीर्थधाम मङ्गलायतन**
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस ( उत्तरप्रदेश ) भारत

**पूर्व पाँच संस्करण :** 6100 प्रतियाँ
**छठवाँ संस्करण :** 1000 प्रतियाँ
(पण्डित कैलाशचन्द्र जैन जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित मङ्गल समर्पण समारोह के अवसर पर दिनांक 10 जून 2012)

**ISBN No. :** 81-89824-01-5

**न्योछावर राशि :** रुपये 15.00

**Available At -**

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

**टाइप सेटिंग :**
**मङ्गलायतन** ग्राफिक्स, अलीगढ़

**मुद्रक :**
**देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर**

# प्रकाशकीय

**( छठवाँ संस्करण )**

**'धन्य मुनिराज हमारे हैं'** (खण्ड-2) कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति में परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को दर्शानेवाली 10 कथाओं का अद्भुत सङ्कलन किया गया है। अति अल्प समय में इस कृति का छठवाँ संस्करण इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह तो सर्वविदित है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** अपने उद्भव काल से ही परम पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित जिन सिद्धान्तों को देश-विदेश में प्रचार-प्रसार करने हेतु प्रयासरत है।

वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत **मङ्गलायतन** पत्रिका का मासिक प्रकाशन उल्लेखनीय है। यह पत्रिका विविध विशेषाङ्कों के रूप में प्रतिमाह प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के वर्तमान में धन्य मुनिदशा विशेषाङ्कों के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभी तक के इतिहास में एक अपूर्व उपलब्धि है।

इन विशेषाङ्कों से प्रेरणा पाकर **तीर्थधाम मङ्गलायतन** परिसर में **'धन्य मुनिदशा'** प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें स्वरूपानन्दी वीतरागी मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से जीवन्त प्रस्तुति प्रदान की गयी है। आज हजारों लोग प्रतिदिन यहाँ पधारकर

विश्व की इस अद्वितीय रचना का दर्शन कर दिगम्बरत्व के गौरव से परिचित होते हैं, साथ ही इस भ्रम का प्रक्षालन भी करते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री मुनिविरोधी है। ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के प्राङ्गण में साधर्मीजनों के ये स्वर मुखरित होते हुए आप देख / सुन सकते हैं कि पूज्य श्री कानजीस्वामी तो सच्चे मुनिभक्त हैं।

इन विशेषाङ्कों में प्रकाशित सामग्री को आवश्यक परिवर्तन / परिवर्धन के साथ शीघ्र ही 'धन्य मुनिदशा' नाम से 4 खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है।

मुनिराजों की अन्तरपरिणति, परीषहों की विषय परिस्थितियों में सुमेरुवत् अचल परिणति की गौरव गाथाएँ सम्पूर्ण प्रथमानुयोग में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं, उनमें से कतिपय प्रसङ्ग विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन कथा ग्रन्थ में जिन-जिन लेखकों द्वारा लिखित कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है, हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सङ्कलन एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँवाले) ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** द्वारा किया गया है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में श्री चेतन, कश्यप जैन सुपुत्र श्रीमति अनीता अजितकुमार जैन, बड़ोदरा द्वारा प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इन कथाओं के माध्यम से मुनिदशा की भावना प्रगट करेंगे - इसी आशा एवं विश्वास के साथ।

**पवन जैन**
**तीर्थधाम मङ्गलायतन**

# सम्पादकीय

परम पूज्य वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तों की गौरव गाथाओं को दर्शाता प्रस्तुत ग्रन्थ '**धन्य मुनिराज हमारे हैं**' (खण्ड-2) मुनिभक्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

चलते-फिरते सिद्धरूप मुनिराज की अन्तरपरिणति तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता से ओत-प्रोत होती है तो उनकी बाह्य मुद्रा अत्यन्त निर्विकार नग्न दिगम्बर होती है। मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य श्रावक जीवन का धन्य पल होता है और यदि उनको आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में बन जाए तो कहना ही क्या! इस प्रसङ्ग का भाववाही वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं -

'सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! - इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनि को आहार देते हैं।'

मुनि भगवन्तों का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधनामय होता है। उपसर्ग-परीषह उनके पवित्र आत्मध्यान की परीक्षा का काल होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में मुनिराज अपने ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन ग्रहण करते हुए प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

जिनागम का प्रथमानुयोग ऐसे ही स्वरूप साधकों की मङ्गल गौरव गाथाएँ प्रस्तुत कर हमें भी निरन्तर आत्म-साधना की प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

अहो! मुनिराजों के जीवन के ये पवित्र संस्मरण हमारे चित्त में उन साधकों के प्रति भक्तिभाव तो जागृत करते ही हैं, हमें उस दशा की पावन भावना भी जागृत करते हैं।

अपनी उसी वैराग्य भावना को परिपुष्ट करने के पावन उद्देश्य से मुनि जीवन की 108 कथाओं का सङ्कलन कर 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' कथा शृङ्खला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का प्रयास है।

***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** द्वारा प्रतिमाह प्रकाशित होनेवाली ***मङ्गलायतन*** पत्रिका के माध्यम से अब तक 37 विशेषाङ्क प्रकाशित कर, उन आराधक सन्तों के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित की है, जो अपने आप में एक ऐतिहासिक कार्य है। इस कार्य के मूल प्रेरणास्रोत तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अन्तरङ्ग में व्याप्त मुनिभक्ति ही है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ की मङ्गल प्रेरणाएँ भी इस कार्य के प्रति निमित्तभूत हुई है। अत: मैं अपने परम उपकारी इन गुरुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कथा संग्रह में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कहानियों का सङ्कलन किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। यद्यपि कथाएँ उनकी मूल भाषा में रखने का प्रयास किया गया है, तथापि भाषा को प्रवाहमयता के उद्देश्य से उसमें आवश्यक संशोधन भी किये हैं। कुछ कथाओं के शीर्षक बदलकर उन्हें नया नाम भी दिया गया है। कहीं-कहीं प्रासङ्गिक तात्त्विक उद्बोधन भी डाला गया है। इस मङ्गल कार्य में प्रवृत्त होने से मुझे पूज्य वीतरागी सन्तों का अन्तरङ्ग जानने का अवसर तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही उदयजन्य विषम परिस्थितियों में विचलित न होने का साहस भी उपलब्ध हुआ है।

इस कार्य का सुअवसर प्रदान करने के लिए अग्रज श्री पवन जैन, पण्डित अशोक लुहाड़िया इत्यादि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में यही भावना भाता हूँ कि धन्य मुनिदशा का धन्य क्षण मेरे जीवन में भी आये।

***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** देवेन्द्रकुमार जैन

# अनुक्रमणिका


| | | |
|---|---|---|
| 1. | धन्य मुनिराज का दर्शन | 1 |
| 2. | धर्म-प्रभावक मुनिश्री वज्रकुमार | 10 |
| 3. | कामदेव श्री जीवन्धरस्वामी | 21 |
| 4. | पतितोद्धारक मुनिश्री वारिषेण | 46 |
| 5. | मुक्ति-साधक धन्यकुमार | 53 |
| 6. | वरांगकुमार का वैराग्य | 83 |
| 7. | परिणामों की परख | 104 |
| 8. | परिवर्तन परिणामों का | 108 |
| 9. | वात्सल्यमूर्ति मुनिश्री विष्णुकुमार | 134 |
| 10. | शीलवान सेठ सुदर्शन | 143 |

# 1

# धन्य मुनिराज का दर्शन

*संसार के अत्यन्त दुःखमयी प्रसङ्गों में, जब ऊपर आकाश और नीचे पाताल जैसी परिस्थिति हो, तब भी जीव को धर्म और धर्मात्मा कितने अचिन्त्य शरणरूप होते हैं – उसकी महिमा बतानेवाला सती अंजना के जीवन का एक प्रेरण प्रसङ्ग यहाँ प्रस्तुत है।*

बाईस वर्ष तक पति पवनञ्जय से बिछुड़ी हुई होने पर भी गर्भवती जानकर सती अंजना को, जिस समय सासु केतुमती ने कलङ्किनी समझकर क्रूरतापूर्वक राज्य से निकाल दिया और उसके बाद पिता गृह में भी उसे आश्रय नहीं मिला, उस समय किसी ने भी अंजना को शरण नहीं दी, तब पूरे संसार से उदास हुई वह सती अपनी एक सखी के साथ वन की ओर जाती हुई कहती है — 'चलो सखी अब वहाँ चलें.... जहाँ मुनियों का वास हो। हे सखी! इस संसार में अपना कोई नहीं है। श्री देव–गुरु–धर्म ही अपने सच्चे माता–पिता हैं, उनकी ही सदा शरण है।'

बाघ से भयभीत हिरणी के समान अंजना, अपनी सखी के साथ वन में जा रही है..... वनवासी मुनिराजों को याद करती जा



रही है और चलते–चलते जब थक जाती है, तब बैठ जाती है। उसका दुःख देखकर सखी विचार करती है –

'हाय! पूर्व के किस पाप के कारण यह राजपुत्री निर्दोष और गर्भवती होने पर भी महान कष्ट पा रही है। संसार में कौन रक्षा करे? अरे रे! पति के वियोग से भी अधिक दुःख आज उसे पति के संयोग के कारण हो रहा है क्योंकि अभी इसके प्रबल पापोदय चल रहा है; अतः सभी सहयोग करनेवाले भी इसे प्रताड़ित ही कर रहे हैं; इसीलिए तो पवनञ्जय और अंजना के मिलन का समाचार सास–ससुर एवं माता–पिता आदि किसी को भी नहीं मिला। अतः हमें खोटे कर्म करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्मों का फल तो सभी को भोगना पड़ता है, चाहे वह तद्भव मोक्षगामी हनुमान की माता ही क्यों न हो। अरे, दुर्भाग्य की इस घड़ी में भी एकमात्र धर्म ही इस शीलवती को शरण है। जब पूर्व कर्म का उदय ही ऐसा हो, तब धैर्यपूर्वक धर्मसेवन ही शरणभूत है, दूसरा कोई शरण नहीं।'

उदास अंजना वन में अत्यन्त विलाप कर रही है, साथ ही अंजना की सखी भी रो रही है। अरे! उस निर्जन वन में अंजना और उसकी सखी का विलाप इतना करुण था कि उन्हें देखकर आस–पास में रहनेवाली हिरणियाँ भी उदास हो गईं।

बहुत देर तक उनका रुदन चलता रहा.... अन्त में विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न सखी ने धैर्यपूर्वक अंजना को हृदय से लगाकर कहा –

'हे सखी! शान्त हो.... रुदन छोड़ो! अधिक रोने से क्या? तुम

तो जानती हो कि इस संसार में जीव को कोई शरण नहीं है, यहाँ तो सर्वज्ञ देव, निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु और उनके द्वारा कहा गया धर्म ही सच्चे माता-पिता और बाँधव हैं और ये ही शरणभूत हैं, तुम्हारा आत्मा ही तुम्हें शरणभूत है, वही सच्चा रक्षक है और इस असार-संसार में अन्य कोई शरणभूत नहीं है; इसलिए हे सखी! ऐसे धर्म-चिन्तन के द्वारा तू चित्त को स्थिर कर... और शान्त हो।

हे सखी! इस संसार में पूर्व कर्म के अनुसार संयोग-वियोग होता ही है, उसमें हर्ष-शोक क्या करना? जीव सोचता कुछ है और होता कुछ है। संयोग-वियोग इसके आधीन नहीं है.... यह सब तो कर्म की विचित्रता है; इसलिए हे सखी! तू व्यर्थ ही दु:खी न हो, दु:ख छोड़कर धैर्य से अपने मन को भेदज्ञानपूर्वक वैराग्य में दृढ़ कर।'

– ऐसा कहकर स्नेहपूर्वक सखी ने अंजना के आँसू पोंछे। सती अंजना का चित्त शान्त हुआ और वह वीतरागी ज्ञायकतत्त्व की भावना भाने लगी –

**कर्मोदय के विविध फल, जिनदेव ने जो वर्णवे।**
**वे मुझ स्वभाव से भिन्न हैं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥**

सखी ने अंजना के हितार्थ आगे कहा – 'हे देवी! चलो, इस वन में जहाँ हिंसक प्राणियों का भय न हो – ऐसा स्थान देखकर, किसी गुफा को साफ करके वहाँ रहेंगे; यहाँ सिंह, वाघ और सर्पों का डर है।'

सखी के साथ अंजना जैसे-तैसे चलती है, साधर्मी के स्नेह -बन्धन से बँधी हुई सखी उसकी छाया की तरह उसके साथ ही



रहती है। अंजना भयानक वन में भय से डर रही थी, उस समय उसका हाथ पकड़कर सखी कहती है – 'अरे मेरी बहिन! तू डर मत.... मेरे साथ चल.....।'

सखी का हाथ मजबूती से पकड़कर अंजना चलने लगी। चलते-चलते थोड़ी दूर एक गुफा दिखाई दी।

सखी ने कहा – 'वहाँ चलते हैं।'

लेकिन अंजना ने कहा – 'हे सखी! अब मुझमें तो एक कदम भी चलने की हिम्मत नहीं रही.... अब तो मैं थक गयी हूँ।'

सखी ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक शब्दों से उसे धैर्य बँधाया और स्नेह से उसका हाथ पकड़कर गुफा के द्वार तक ले गयी। दोनों सखियाँ अत्यन्त थकी हुई थीं। 'बिना विचारे ही गुफा के अन्दर जाने में खतरा है' – ऐसा विचार करके थोड़ी देर बाहर ही बैठ गयी, लेकिन जब दोनों ने गुफा में देखा... तो गुफा का दृश्य देखते ही दोनों सखियाँ आनन्दाविभूत होकर आश्चर्यचकित हो गयीं।

उन्होंने गुफा में ऐसा क्या देखा?

अहो! उन्होंने देखा कि गुफा में एक वीतरागी मुनिराज ध्यान में विराजमान हैं। चारणऋद्धि के धारक इन मुनिराज का शरीर निश्चल है, मुद्रा परमशान्त समुद्र के समान गम्भीर है, आँखें अन्तर में झुकी हुई हैं, आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप जिनशासन में कहा है,

वैसा ही उनके ध्यान में आ रहा है। वे पर्वत जैसे अडोल हैं, आकाश जैसे निर्मल हैं और पवन जैसे असङ्गी हैं, अप्रमत्तभाव में विराज रहे हैं और सिद्ध के समान आत्मिकआनन्द का अनुभव कर रहे हैं।

गुफा में एकाएक ऐसे मुनिराज को देखते ही दोनों की प्रसन्नता का पार नहीं रहा।'अहो! धन्य मुनिराज!' – ऐसा कहती हुईं हर्षपूर्वक वे दोनों सखियाँ मुनिराज के समीप गयीं। मुनिराज की वीतरागी मुद्रा देखते ही वे जीवन के सर्व दुःखों को भूल गयीं। भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ऐसे वन में मुनि जैसे परम बाँधव मिलते ही प्रसन्नता के आँसू निकलने लगे... और नजर मुनिराज के चरणों में रुक गयी। तब वे हाथ जोड़कर गद्‌गद् भाव से मुनिराज की स्तुति करने लगीं –

'हे मुनिवर! हे कल्याणरूप!! आप संसार को छोड़कर आत्महित की साधना कर रहे हो.... जगत के जीवों के भी आप परम हितैषी हो।... अहो, आपके दर्शन से हमारा जीवन सफल हुआ.... आप महा क्षमावन्त हो, परमशान्ति के धारक हो, आपका विहार जीवों के कल्याण का कारण है।' – ऐसी विनयपूर्वक स्तुति करके, उन मुनिराज के दर्शन से उनका सारा भय एवं दुःख दूर हो गया... और उनका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

ध्यान टूटने पर मुनिराज ने परमशान्त अमृतमयी वचनों से धर्म की महिमा बताकर उनको धर्मसाधना में उत्साहित किया और अवधिज्ञान से मुनिराज ने 'अंजना के उदर में स्थित चरमशरीरी



हनुमान के वृत्तान्तसहित पूर्वभव में अंजना द्वारा जिन-प्रतिमा का अनादर करने से इस समय अंजना पर यह कलङ्क लगा है' – यह बताते हुए कहा –

'हे पुत्री! तू भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्र और जैनधर्म की आराधना कर.... इस पृथ्वी पर जो सुख है, वह उसके ही प्रताप से तुझे मिलेगा। अतः हे भव्यात्मा! अपने चित्त में से खेद / दुःख दूर कर और प्रमादरहित होकर धर्म में मन लगा।'

अहा! अंजना को मुनिराज के दर्शन से जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आनन्द से उसके नेत्र, पलक झपकना भूल गये...। वह पुनः मुनिराज की स्तुति करती हुई कहने लगी – 'अहो! इस घनघोर वन में हमें धर्मपिता मिले, आपके दर्शन से हमारा दुःख दूर हो गया, आपके वचनों से हमें जो धर्मामृत मिला है, हमें वही परमशरणरूप हो' – ऐसा कहकर वे मुनिराज के चरणों में बारम्बार नमस्कार करने लगी।

निस्पृही मुनिराज तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर आकाशमार्ग से विहार कर गये। मुनिराज के ध्यान द्वारा पवित्र हुई इस गुफा को तीर्थ समान समझकर, दोनों सखियाँ धर्म में सावधान होकर वहीं रहने लगीं। कभी वे जिनभक्ति करतीं और कभी मुनिराज को याद करके वैराग्य से शुद्धात्मतत्त्व की भावना भाती....।

इस प्रकार धर्म की साधनापूर्वक समय निकल गया और योग्य काल में चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन अंजना ने एक मोक्षगामी पुत्ररत्न को जन्म दिया... जो आगे चलकर वीर हनुमान के नाम से विख्यात हुआ।

चरमशरीरी-मोक्षगामी पुत्र के जन्म से वन के वृक्ष भी हर्ष से खिल उठे और हिरण, मोर आदि पशु-पक्षी भी आनन्द से नाच उठे।

पाठकों! आपने भी आनन्द मनाया होगा क्योंकि जैसे महावीर हमारे भगवान हैं, वैसे ही हनुमान भी हमारे भगवान हैं।

पश्चात् सती अंजना के मामा अचानक उस वन में आये और अंजना तथा हनुमान को अपनी नगरी 'हनुरुह' नामक द्वीप ले गये... और वहीं सब आनन्द से रहने लगे।

★ ★ ★

देखो, महान् पुण्यवान और आत्मज्ञानी ऐसा वह धर्मात्मा बालक 'हनुमान' आनन्द से बड़ा हो रहा है। अंजना-माता अपने लाडले बालक को उत्तम संस्कार दे रही हैं और बालक की महान चेष्टाओं को देखकर आनन्दित हो रही हैं। ऐसे अद्भुत प्रतापी बालक को देखकर जीवन के सभी दु:खों को वे भूल गयी हैं और आनन्द से जिनगुणों में चित्त लगाकर जिनभक्ति करती रहती हैं तथा हमेशा वनवास के समय गुफा में देखे उन मुनिराज को बारम्बार याद करती हैं।

बालक हनुमान भी रोज माता के साथ ही जिनमन्दिर जाता है, वह वहाँ देव-गुरु-शास्त्र की पूजा करना सीख रहा है और मुनियों के संघ को देखकर आनन्दित होता है।

एक बार हनुमान से अंजना पूछती हैं 'बेटा हनुमान! तुम्हें क्या अच्छा लगता है ?'

हनुमान कहते हैं - 'माँ, मुझे तो एक तुम अच्छी लगती हो और दूसरा आत्मा का सुख अच्छा लगता है।'



माँ कहती है - 'अरे बेटा! मुनिराज ने कहा है कि तुम चरमशरीरी हो, इसलिए तुम तो इस भव में ही मोक्षसुख प्राप्त करोगे और भगवान बनोगे।'

हनुमान कहते हैं - 'अहो, धन्य हैं वे मुनिराज! धन्य हैं!! हे माता! जब मुझे तुम्हारे जैसी माता मिली, तब फिर मैं दूसरी माता का क्या करूँगा? और तुम भी इस भव में आर्यिकाव्रत धारण करके स्त्रीपर्याय को छेदकर शीघ्र ही अनन्त भवों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त करना।'

अंजना कहती है - 'वाह बेटा! तुम्हारी बात सत्य है। सम्यक्त्व के प्रताप से अब फिर कभी यह निंद्य स्त्री पर्याय नहीं मिलेगी, अब तो संसार दु:खों का अन्त नजदीक आ गया है। बेटा! तुम्हारा जन्म होने से लौकिक दु:ख टल गये और अब संसार-दु:ख भी अवश्य दूर हो जाएगा।'

हनुमान कहते हैं - 'हे माता! संसार का संयोग-वियोग कितना विचित्र है और जीवों के प्रीति-अप्रीति के परिणाम भी कितने चञ्चल और अस्थिर हैं। एक क्षण में जो वस्तु प्राणों से भी प्रिय लगती है, दूसरे क्षण में वही वस्तु उतनी ही अप्रिय हो जाती है और बाद में वही वस्तु फिर से प्रिय लगने लगती है। इस प्रकार दूसरे के प्रति प्रीति-अप्रीति के क्षणभंगुर परिणामों के द्वारा जीव आकुल-व्याकुल होते हैं। मात्र चैतन्य का सहज ज्ञानस्वभाव ही स्थिर और शान्त है, वह प्रीति-अप्रीति से रहित है; अत: ज्ञानस्वभाव की

आराधना के अलावा अन्यत्र कहीं सुख नहीं है।'

अंजना कहती है – 'वाह बेटा! तुम्हारी मधुर वाणी सुनकर प्रसन्नता होती है। जिनधर्म के प्रताप से हम भी ऐसी ही आराधना कर रहे हैं। जीवन में सबकुछ देखा, इसी प्रकार दु:खमय संसार को भी जान लिया। बेटा! अब तो बस! आनन्द से मोक्ष की ही साधना करना है।' इस प्रकार माँ-बेटा (अंजना और हनुमान) बहुत बार आनन्द से चर्चा करते हैं और एक-दूसरे के धर्म संस्कारों को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार हनुरुह द्वीप में हनुमान, विद्याधरों से राजा प्रतिसूर्य के साथ देव की तरह क्रीड़ा करते हैं और आनन्दकारी चेष्टाओं के द्वारा सबको आनन्दित करते हैं।

धीरे-धीरे हनुमान युवा हो गये, कामदेव होने से उनका रूप सोलह कलाओं से खिल उठा; भेदज्ञान की वीतरागी विद्या तो उनमें थी ही, पर आकाशगामिनी विद्या आदि अनेक पुण्य विद्याएँ भी उनको सिद्ध हुईं। वे समस्त जिनशास्त्रों के अभ्यास में निपुण हो गये; उन्हें रत्नत्रय के प्रति परमप्रीति थी, देव-गुरु-शास्त्र की उपासना में वे सदा तत्पर रहते थे।

अन्त में हनुमान ने संसार से उदास होकर दिगम्बर दीक्षा धारण की और स्वरूप में मग्न होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षलक्ष्मी का वरण कर अनन्त सुखी हो गये।

*– ऐसे वन-गुफा में जन्मे तद्भव मोक्षगामी वीर हनुमान का जीवन चरित्र एवं सती अंजना के जीवन का, संसार से वैराग्य करानेवाले प्रेरक प्रसङ्ग पढ़कर हमें भी अपने आत्मकल्याण में संलग्न होना चाहिए।* ●

*– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

**2**

# धर्म-प्रभावक मुनिश्री वज्रकुमार

**जैसे होवे वैसे भाई, दूर हटा जग का अज्ञान।**
**कर प्रकाश, कर दे विनाश तम, फैलादे शुचि सच्चा ज्ञान॥**
**तन-मन-धन सर्वस्व भले ही, तेरा इसमें लग जावे।**
**'वज्रकुमार मुनीन्द्र' सदृश तू, तब 'प्रभावना' कर पावे॥**

अहिछत्रपुर राज्य में सोमदत्त नामक एक मन्त्री था, एकबार उसकी गर्भवती पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई। उस समय आम पकने का मौसम नहीं था, फिर भी मन्त्री ने वन में जाकर आम ढूँढा तो एक पेड़ पर एक पका हुआ आम लगा दिखायी दिया, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस आम्रवृक्ष के नीचे एक वीतरागी मुनिराज को ध्यानस्थ बैठे देखकर सोचा कि शायद इन्हीं के प्रभाव से इस पेड़ पर आम पक गया है।

मन्त्री, भक्तिभावपूर्वक नमस्कार करके मुनि महाराज के सामने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बैठ गया। मुनि महाराज ने उस मन्त्री को निकट भव्य जानकार धर्म का स्वरूप समझाया। उसी समय अत्यन्त वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर, मन्त्री दीक्षा लेकर मुनि हो गये और वन में जाकर आत्मसाधना करने लगे।

उस सोमदत्त मन्त्री की पत्नी यज्ञदत्ता ने एक सुन्दर पुत्र को

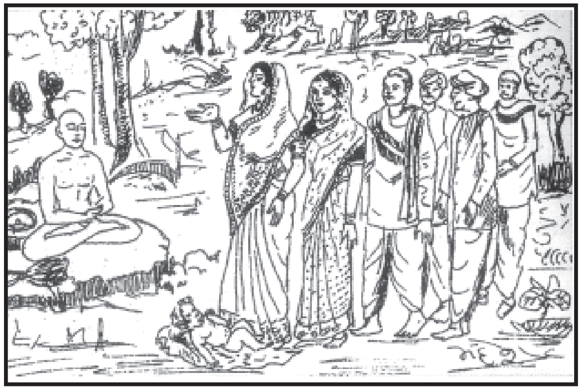

जन्म दिया। वह पुत्र को लेकर मुनिराज सोमदत्त के समीप आयी परन्तु संसार से विरक्त मुनिराज ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे क्रोधित होकर वह स्त्री बोली – 'अगर साधु होना था तो मुझसे शादी क्यों की ? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा ? अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा ?' — ऐसा कहकर वह उस बालक को वहीं छोड़कर चली गयी।

बस, उसी समय दिवाकर नाम के एक विद्याधर राजा, मुनिराज के दर्शनाथ वहाँ आये और उन्होंने गुफा के बाहर उस अत्यन्त तेजस्वी सुन्दर बालक को पड़ा हुआ देखा। विद्याधर राजा की रानी ने उस बालक को एकदम उठा लिया और बड़े प्यार से उसे अपने साथ ले गये। अब उस बालक का पुत्र जैसा पालन-पोषण विद्याधर राजा के यहाँ होने लगा।

'अरे! पुण्य-पाप की दशा विचित्र है। क्षणभर में वह नवजात शिशु कहाँ से कहाँ पहुँच गया। **अहो! जिसे उत्पन्न होते ही मुनिराज के चरणों की शरण मिली हो, उसके धन्य भाग्य का क्या कहना!** पुण्य के उदय से समस्त अनुकूल संयोग सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।'



बालक के हाथ में वज्र का चिह्न देखकर उसका नाम 'वज्रकुमार' रख दिया गया। बालक रूप, सौन्दर्य और गुणों में दिनोंदिन चन्द्रमा की कलाओं की तरह वृद्धिङ्गत होने लगा। वह अपनी बाल सुलभ क्रीड़ाओं के द्वारा सबको आनन्दित करने लगा।

थोड़े ही दिनों में वह बालक, शास्त्र पराङ्गत एवं अनेक विद्याओं में प्रवीण हो गया। उसकी प्रतिभाशाली बुद्धि देखकर सब आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार हीमन्त पर्वत पर जब प्रकृति की शोभा देख रहे थे, तब उन्होंने वहाँ पर एक विद्याधर पुत्री पवनवेगा को विद्या साधते हुए देखा, परन्तु उसकी आँख में एक तृण चले जाने से उसका चित्त चञ्चल हो गया, जिससे उसे विद्या साधने में बड़ा विघ्न हुआ। वज्रकुमार ने उसे ध्यान से विचलित होते देखकर उसकी आँख से तिनका निकाल दिया, तब पवनवेगा ने निर्विघ्न होते ही शीघ्र विद्या सिद्ध कर ली।

विद्या सिद्ध होने पर पवनवेगा कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए वज्रकुमार के पास आयी और बोली 'आप ने जो मेरा उपकार किया है, उसका बदला मैं नहीं चुका सकती हूँ परन्तु यह जीवन आपके लिये समर्पण कर आपके चरणों की दासी बनना चाहती हूँ, मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये।'

वज्रकुमार ने उसके प्रेमोपहार को स्वीकार कर लिया। शुभ अवसर पर दोनों का विवाह हो गया और दोनों आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार को ज्ञात हुआ कि मेरे पिता का राज्य हमारे चाचा ने छीन लिया है और उन्हें देश से निकाल दिया है, जिससे वे अपनी बहिन के यहाँ रह रहे हैं, इस बात पर उसे बहुत क्रोध आया। पिता के अनेक प्रकार समझाने पर भी वह कुछ सेना और पत्नी की विद्याएँ लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा। पुरसुन्दर को इस चढ़ाई का आभास न होने से, बात ही बात में वज्रकुमार ने उन्हें हराकर बाँध लिया; अतः राज्य सिंहासन पुनः दिवाकर देव के अधिकार में आ गया। इस वीरता के कारण वज्रकुमार की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी और बड़े-बड़े शूरवीर उसके नाम से डरने लगे।

इसी समय दिवाकर देव की स्त्री के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे तभी से इस बात की चिन्ता हो गयी कि वज्रकुमार के रहते मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? पुत्र को राज्य मिलने में यही एक काँटा है। इसे किस तरह निकाला जाए ? इस प्रकार उसके चित्त में वज्रकुमार के प्रति परायापन भासित होने लगा; इसलिए एक दिन उसने पड़ोसन से कहा कि 'वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है। देखो ! कहाँ तो यह उत्पन्न हुआ और कहाँ आकर हमें दुःख दे रहा है।' — वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से यह कहते हुए सुन लिया।

— ऐसा सुनते ही उसके हृदय पर वज्रपात हो गया, उसका हृदय जलने लगा। वह सत्य बात जानने के लिये उसी समय पिता के पास पहुँचा और पूछने लगा - 'पिताजी ! आप सत्य बतलाईये कि मैं किसका पुत्र हूँ ? कहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और यहाँ कैसे आया हूँ ? मैं यह जानता हूँ कि मेरे सच्चे माता-पिता तो आप ही हैं,



क्योंकि आप ने ही मेरा पालन-पोषण किया है तो भी मुझे यथार्थ बात जानने की तीव्र जिज्ञासा है।'

वज्रकुमार के अधिक आग्रह करने पर दिवाकर देव ने उसको सम्पूर्ण वृत्तान्त बतला दिया। वज्रकुमार अपना वृत्तान्त सुनकर संसार से विरक्त हो गया। पिंजड़े के पंछी की तरह उसका मन संसार से मुक्त होने के लिये तड़पने लगा। वह विचारने लगा — 'समस्त पापों का मूल यह आरम्भ-परिग्रह ही है, इसी से समस्त दुर्ध्यान होते हैं; जीव समस्त अनीति परिग्रह की ममता के कारण ही करता है, परिग्रह की वाञ्छा से हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील सेवन करता है; परिग्रह के प्रभाव से महा अभिमान करता है; परिग्रह के कारण मर जाता है, अन्य को मार देता है। नरकादि गतियों के दुःखों का मूलकारण परिग्रह के प्रति मूर्च्छा का परिणाम ही है। जो समस्त पापों से छूटना चाहता है, वह परिग्रह के प्रति विरक्त होता है। जिसके अन्तरङ्ग में मिथ्यात्वपरिग्रह का अभाव हो जाता है, उसके बाह्य परिग्रह में ममता नहीं होती।

दरिद्री बाह्य परिग्रहरहित तो स्वभाव से ही होता है परन्तु अभ्यन्तर ममता छोड़ने को कोई समर्थ नहीं है; इसलिए मूर्च्छा, अर्थात् ममत्वपरिणाम ही वास्तव में परिग्रह है। हे आत्मन् ! समस्त संसार के मूल इस अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परिग्रह को छोड़कर शीघ्र निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा धारण करो। मुनिधर्मरूपी नौका का अवलम्बन लिये बिना जीव, संसारसागर से तिर नहीं सकता।'

— ऐसा विचार कर वज्रकुमार ने माता-पिता से मुनिदीक्षा धारण करने की आज्ञा माँगी। उन्होंने बहुत समझाया पर वह तो वज्र

की तरह निर्णय कर चुका था। स्वार्थपूर्ण संसार से उनका मन विरक्त हो गया था। उन्होंने अपने पिता मुनिराज सोमदत्त के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। देखो! पुन: दूसरी बार भी पिता के चरणों की शरण ही मिली। उग्र तपश्चरण के द्वारा उन्हें चारणऋद्धि प्रगट हो गयी। अहो! धन्य पुरुषों के द्वारा ही ऐसा उग्र पुरुषार्थरूप आत्मकल्याण का मार्ग अङ्गीकार किया जाता है।

★ ★ ★

अनादि काल से जीव, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रकाशित धर्म को नहीं जानता; इसलिए ऐसा ज्ञान नहीं कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मैंने यहाँ जन्म नहीं लिया था, तब कैसा था? यहाँ मुझे किसने उपजाया? अब रात्रि-दिवस आयु व्यतीत हो रही है; अत: मुझे क्या प्रयोजन सिद्ध करना है? मेरा हित क्या है? मुझे आराधने योग्य क्या है? इस पर्याय का क्या कर्तव्य है? मरण का, जीवन का, भक्ष्य-अभक्ष्य का स्वरूप क्या है? देव-गुरु-धर्म का स्वरूप क्या है? जीवों के नाना प्रकार के सुख-दुख कैसे हैं? इत्यादिक विचाररहित होकर जगत के जीव, मोहकर्मकृत अन्धकार से आच्छादित हो रहे हैं, उनके अज्ञानरूप अन्धकार को स्याद्वादरूप परमागम के प्रकाश से स्वरूप-पररूप का प्रकाश करना ही सच्ची धर्म प्रभावना है। ज्ञानी इसी प्रकार की धर्म प्रभावना करते हैं। इसी के साथ उनके निमित्त से बाह्य में भी अनेक प्रकार से धर्म प्रभावना होती है, जिसे देखकर अनेकों भव्यात्माएँ आत्मकल्याण के कार्य में लगती हैं - ऐसी ही एक प्रभावना का अवसर मथुरा नगरी में बना, जिसका वृत्तान्त इस प्रकार है -



उस समय दक्षिण मथुरा में पूतवाहन नामक राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानी उर्मिला, सम्यक्त्वरत्न से सुशोभित थी। वह निरन्तर अनेक प्रकार से जिनधर्म की प्रभावना करती रहती थी। साधर्मियों के साथ स्नेह, उनके कष्ट दूर करना, धर्म का उद्योत करना, पथभ्रष्ट अज्ञानी जीवों को सन्मार्ग पर लगाना, शास्त्रादि पढ़ना पढ़ाना, शास्त्रदान करना, रथादिक महोत्सव करना इत्यादिक अनेक प्रकार से वह धर्म की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न करती रहती थी।

इसी नगरी में समुद्रदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था। समय पाकर धनदत्ता गर्भवती हुई। थोड़े ही दिनों में उसकी सारी सम्पत्ति विलीन हो गयी। अशुभ कर्मोदय से हथेली पर रखा सोना भी कोटि यत्न करने पर भी राख हो जाता है।

'अरे! इस चञ्चल सम्पदा पर मद और भरोसा करने योग्य नहीं है। यह तो क्षण में विद्युत के समान चमककर विलीन हो जाती है।'

जब धनदत्ता के पुत्री का जन्म हुआ तो पिता को महान कष्ट हुआ और पुत्री की उत्पत्ति के तीसरे दिन वह संसार से चल बसा। पति की मृत्यु के छह महीने उपरान्त अशुभ कर्मोदय से धनदत्ता की भी मृत्यु हो गयी। अहो! संसार के क्षणभंगुर संयोगों का भरोसा नहीं है। कहा भी है -

**विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतङ्ग। आयुष्य वह तो जल की तरङ्ग।**
**पुरन्दरी चाप, अनङ्ग रङ्ग। क्या राचिये जहाँ क्षण का प्रसङ्ग?**

माता-पिता की मृत्यु के बाद वह बालिका दर-दर की भिखारिणी बन गयी और गलियों में पड़े जूठे अन्न के दाने चुन-चुनकर खाने लगी।

जिनागम के ज्ञाता, पापरूपी वन को जलानेवाले, सुमेरुपर्वत के समान धैर्यशाली, देहमात्र ही जिनके परिग्रह था – ऐसे अभिनन्दन और नन्दन नाम के दो मुनि, चर्या करते हुए उसी रास्ते से जा रहे थे, उनकी दृष्टि उस कन्या पर पड़ी; उन्होंने निमित्तज्ञान से जानकर कहा – 'अहो ! संसार की स्थिति विचित्र है। देखो ! यही कन्या जो अभी जूठन खा-खा कर उदर भर रही है, भविष्य में राजा पूतवाहन की पटरानी होगी।'

मुनिराजों के इन वचनों को एक बौद्धधर्मानुयायी ने सुन लिया। उसने सोचा – 'जैन ऋषियों के वचन अन्यथा नहीं होते; अतः इस कन्या का पालन करना चाहिए, इसे बौद्धधर्म की शिक्षा देना चाहिए, इसके कारण अपनी भी उन्नति हो सकती है' -ऐसा विचारकर वह उस कन्या को घर ले गया और उसका नाम बुद्धदासी रख दिया। युवावस्था आने पर उसने रति से बढ़कर सौन्दर्य प्राप्त किया।

अपने अप्सराओं के तुल्य सौन्दर्य से जगत को मोहित करती हुई एक दिन वह कन्या बगीचे में झूल रही थी, तभी वहाँ से राजा पूतवाहन की सवारी निकल रही थी। राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया, पश्चात् राजा के कहनेमात्र से उसका विवाह राजा के साथ हो गया।

अहो ! एक सेठ की कन्या, कर्मोदय से क्षण में भिखारिणी से क्षणभर में महारानी बन गयी। राजा उसके भोग में सबकुछ भूल



गया तथा अन्य रानियों से एवं राजपाट से भी विमुख हो गया।

हमेशा की तरह फाल्गुन मास में अष्टाह्निका महापर्व आया। रानी उर्मिला ने आठ दिन तक चार प्रकार के दानपूर्वक व्रतोपवास किया। पूर्णमासी के दिन भगवान के रथ-विहार करने का विशाल आयोजन रखा गया परन्तु राजा, बुद्धदासी के आधीन था; अतः उसके कहने के अनुसार नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि पहले बुद्ध का रथ निकलेगा और उनकी ही धूमधाम से पूजा की जाएगी, पीछे जैन रथ जाएगा और उसकी पूजा भी बाद में ही की जाएगी। राजाज्ञा के अनुसार बुद्ध का रथ निकलने की समस्त तैयारी हो गयी।

उर्मिला रानी विचार में पड़ गयी कि जिनेन्द्र भगवान की सवारी पीछे निकले, यह तो धर्म का अपमान है, इससे तो जिनधर्म की अप्रभावना होगी; अतः उसने तब तक के लिये अन्न-जल का त्याग कर दिया, जब तक जैनरथ पहले नहीं निकल जाता। राजा से कुछ कहना उसने उचित नहीं समझा और वह सोच विचार कर आचार्य सोमदत्त के पास गयी। अपने धर्म के अपमान की सम्पूर्ण बात उन्हें बता दी। 'धर्म का अपमान सहन करने की सामर्थ्य मेरे में नहीं है, अतः मेरा अन्न-जल का त्याग है। हे भगवन् ! इस समय आप ही धर्मरक्षा का उपाय बतायें।'

आचार्य सोमदत्त ने मुनिराज वज्रकुमार को यह कार्य करने की आज्ञा दी।

अपने आचार्य महाराज की आज्ञा तथा रानी की बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में शुभराग के तीव्र उदय से ऐसा

भाव आया कि अरे! यह अहिंसा दया-प्रधान जैनधर्म, अनन्त धर्मात्मक वस्तुस्वरूप को अपनी स्याद्वाद शैली में प्राणीमात्र के लिए हितकारी है, इसे तो विश्वधर्म होना चाहिए। कोई इसका विरोध करे-यह शोभा नहीं देता; अतः मुझे आचार्यश्री की आज्ञानुसार धर्म-प्रभावना में अपना योगदान देना चाहिए। जिनधर्म की महान प्रभावना होने का अवसर आ चुका था, शायद इसीलिए उसी समय विद्याधर राजा दिवाकर अपने विद्याधरोंसहित मुनियों के दर्शन -वन्दन करने आये।

वज्रकुमार मुनि ने कहा - 'राजन्! आप जैनधर्म के परम भक्त हैं और मथुरा नगरी में धर्म पर सङ्कट आया है, वह दूर करने में आप समर्थ हैं। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है; तन से, मन से, धन से, शास्त्र से, ज्ञान से, विद्या से, सर्व प्रकार से वे जिनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं का कष्ट निवारण करते हैं।'

दिवाकर राजा को धर्म का प्रेम तो था ही, मुनिराज के उपदेश से उसे और भी प्रेरणा मिली। मुनिराज को नमस्कार करके तुरन्त ही उर्मिला रानी के साथ सभी विद्याधर मथुरा नगरी आ पहुँचे। पश्चात् उन विद्याधरों ने ही जिनेन्द्र रथयात्रा निकालने की धूमधाम से व्यवस्था की। जब जिनेन्द्र भगवान का रथ

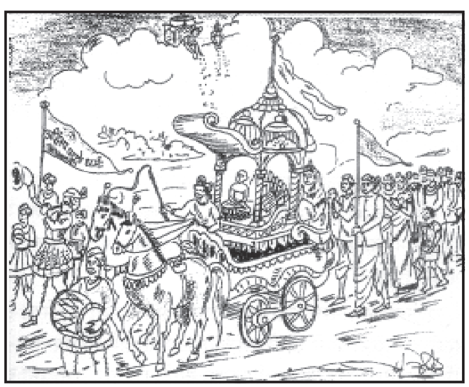



निकला तो चारों ओर विमान लिये विद्याधर उपस्थित थे, मानों देवलोग ही रथोत्सव मनाने आये हों। आकाश से पुष्पवृष्टि हो रही थी, ध्वजाएँ आकाश को छू रही थीं। भेरी, दुन्दुभी, घण्टा आदि अनेक वाद्य मधुर स्वर में बज रहे थे। नगरवासी सर्वत्र जिनधर्म की जय-जयकार कर रहे थे। ऐसा लगता था मानों इन्द्र ही देवोंसहित भगवान का कल्याणक मनाने आये हों। इस प्रकार जिनधर्म की प्रभावना और आश्चर्य देखकर राजा और बुद्धदासी ने भी हजारों नर-नारियोंसहित जैनधर्म स्वीकार कर लिया और मुनिराज वज्रकुमार की वन्दना की। उस दिन से नगर में अकेला जिनेन्द्र भगवान का ही रथ धूमधाम से निकलने लगा।

इस प्रकार सर्वत्र जिनधर्म की प्रभावना हुई। धर्मप्रभावना होती देखकर रानी उर्मिला बहुत प्रसन्न हुई और उसने बारम्बार मुनिराज की स्तुति/वन्दना की। सब ने उर्मिला का बहुत सम्मान किया। उस दिन से राजा भी उर्मिला की बात मानने लगा।

उर्मिला रानी ने उन्हें जिनधर्म के वीतरागी देव-गुरु की अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान धर्मप्रभावना देखकर आनन्दित हुए और बहुमानपूर्वक जिनधर्म की उपासना करने लगे। इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिला रानी द्वारा जिनधर्म की महान प्रभावना हुई।

वज्रकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें जिनधर्म की सेवा और अत्यन्त महिमापूर्वक उसकी प्रभावना करने की शिक्षा देती है। अतः हमें भी तन-मन-धन से; ज्ञान से, श्रद्धा से धर्म पर आये हुए सङ्कट का निवारण करके धर्म की प्रभावना करना चाहिए। ●

*- ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

**3**

# कामदेव श्री जीवन्धरस्वामी

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हेमांगद देश की राजपुरी नामक नगरी में राजा सत्यन्धर यद्यपि गूढ़ रहस्यों को जाननेवाले दूरदर्शी एवं विवेकी थे, तथापि होनहार के अनुसार वे अपनी रानी विजया पर इतने अधिक आसक्त थे कि सदा उनके ही साथ समय बिताया करते थे। इसी कारण उन्होंने एक दिन मन्त्रियों के समझाने पर भी उनकी एक नहीं मानी और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मन्त्री काष्ठांगार को सौंप दी। – इस प्रकार राज–काज के कार्यों की उपेक्षा कर वे रानी के मोह में ही मग्न हो गये।

एक दिन रानी विजया ने रात्रि के पिछले प्रहर में तीन स्वप्न देखे – (1) एक बड़ा अशोकवृक्ष देखते–देखते ही नष्ट हो गया। (2) एक नवीन एवं सुन्दर अशोकवृक्ष देखने में आया। (3) आकर्षक आठ पुष्पमालाएँ दिखाई दीं।

प्रात: रानी ने अपने नित्य कर्त्तव्यों से निवृत्त होकर राजा से स्वप्नों का फल पूछा। राजा ने प्रथम स्वप्न को छोड़कर शेष दो स्वप्नों का फल इस प्रकार बताया – 'हे देवी! तुम्हें शीघ्र ही पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी एवं उसकी शादी सुन्दर और सम्पन्न घराने की आठ कन्याओं से होगी।'

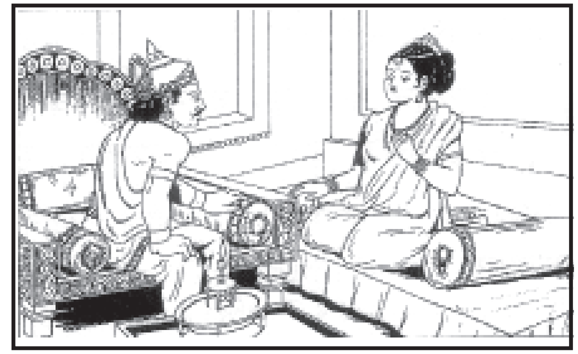

राजा द्वारा प्रथम स्वप्न का फल न बताये जाने से रानी ने अनुमान लगाया कि प्रथम स्वप्न के फल में अवश्य ही राजा का अनिष्ट गर्भित है; अत: वह अत्यन्त दु:खी हुई।

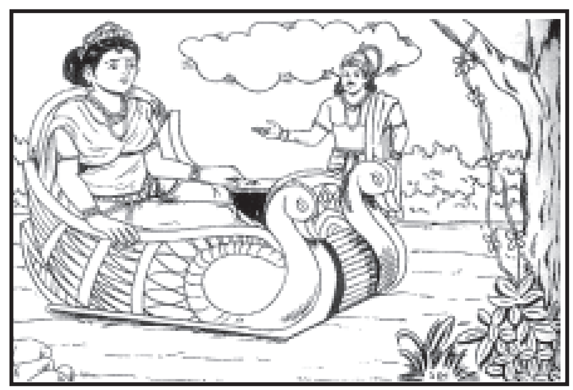

कुछ काल पश्चात् रानी को गर्भवती जानकर, राजा ने 'अपना मरण निकट है' – यह जान लिया; अत: उन्होंने गर्भस्थ शिशु एवं रानी की रक्षार्थ एक केकीयन्त्र (एक प्रकार का वायुयान) बनवाया और रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर आकाश में घुमाने का अभ्यास प्रारम्भ किया।

इसी बीच काष्ठांगार को विचार आया कि 'राजा के सभी कार्य तो मैं ही निष्पन्न करता हूँ, फिर राजा सत्यन्धर कहलाए - यह कहाँ की रीति है; अतः क्यों न मैं राजा का वध करके स्वयं ही राजा बन जाऊँ।' उसने अपना यह खोटा विचार 'यह कहते हुए कि यह बात मुझे एक देव बार-बार कहता है' जब अन्य मन्त्रियों को बताया, तब लगभग सभी मन्त्रियों ने इस विचार का विरोध किया परन्तु काष्ठांगार के साले मन्थन ने उसके इस खोटे विचार का समर्थन किया और काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर को मारने के लिए सेना को आदेश दे दिया।

सेना द्वारा अपने पर आक्रमण के समाचार सुनकर राजा ने सर्व प्रथम रानी एवं गर्भस्थ पुत्र की रक्षार्थ रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यन्त्र को आकाश मार्ग से अन्यत्र भेज दिया। भेजने के पूर्व राजा ने रानी विजया को कुछ आवश्यक उद्बोधन दिया, जो इस प्रकार है -

'हे रानी! तुम शोक मत करो। जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसको उदय में आये पापकर्म के फल में प्राप्त दुःख को तो भोगना ही पड़ता है। अब अपना पुण्य भी क्षीण हो गया है और पाप का उदय आ गया है; अतः हम पर दुःख और आपत्तियों का आना तो अनिवार्य ही है।



जिस प्रकार क्षणभंगुर जल का बुलबुला अधिक देर तक नहीं टिक सकता; उसी प्रकार यौवन, शरीर, धन-दौलत, राज-शासन आदि अनुकूल संयोग भी क्षणभंगुर ही हैं; इस कारण इन अनुकूल संयोगों का वियोग होना अप्रत्यासित नहीं है; अतः तुम शोक मत करो। यद्यपि यह सब मेरे मोहासक्त होने का ही दुष्परिणाम है; पर.... जो होना था, वही तो हुआ है। तुम्हारे स्वप्नों ने पहले ही हमें इन सब घटनाओं से अवगत करा दिया था। स्वप्नों के फल यही तो दर्शाते हैं कि अब अपना पुण्य क्षीण हो गया है; अतः वस्तुस्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।' - इस तरह राजा ने रानी को समझाया।

रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यन्त्र को आकाशमार्ग से भेजने के बाद राजा को स्वयं अपनी ही सेना से युद्ध करना पड़ा। कुछ समय पश्चात् युद्ध की व्यर्थता को जानकर राजा विरक्त हो गये और सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग कर स्वर्ग में देव हुए।

केकीयन्त्र ने गर्भवती रानी विजया को राजपुरी की श्मशान भूमि में पहुँचा दिया। वहीं रानी ने जीवन्धरकुमार को जन्म दिया। उसी समय चम्पकमाला नामक देवी ने धाय माँ के वेश में आकर रानी से कहा - 'हे देवी! आप अपने पुत्र के लालन-पालन की

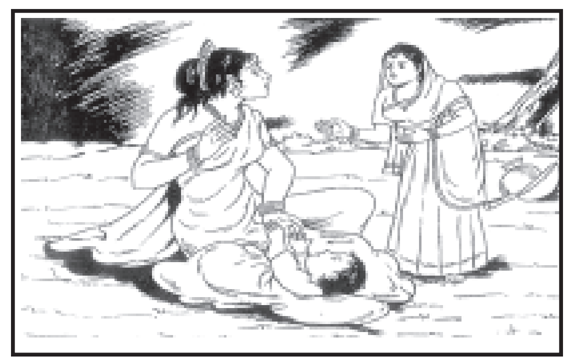

चिन्ता छोड़ दें, उसका पालन-पोषण तो राजकुमारोचित्त ही होगा।'

देवी की बात सुनकर विजया रानी ने पुत्र को राजमुद्रांकित अँगूठी पहनाई और स्वयं वहीं झाड़ियों में छिप गयी। तभी गंधोत्कट सेठ अपने नवजात मृत पुत्र के अन्तिम संस्कार हेतु वहाँ आये और अवधिज्ञानी मुनि के वचनानुसार नवजात जीवित पुत्र को खोजने लगे। सेठ को राजपुत्र जीवन्धर मिल गये, वह राजपुत्र जीवन्धर को लेकर घर पहुँचा और अपनी पत्नी सुनन्दा से

बोला - 'अरे भाग्यवान्! यह अपना पुत्र तो जीवित है, मरा नहीं है; अत: अब इसका भली प्रकार लालन-पालन करो।'

सेठानी सुनन्दा भी यह जानकर प्रसन्न हुई कि 'अहा! मेरा पुत्र जीवित है।'

★ ★ ★

देखो, पुण्य-पाप के उदय में भी कैसी-कैसी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ बनती हैं, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। एक ओर ऐसा पापोदय, जिसके उदय में भयङ्कर एवं दु:खद प्रतिकूल परिस्थितियों की भरमार और दूसरी ओर पुण्योदय भी ऐसा कि मानवों की तो बात ही क्या? देवी-देवता भी सहायक हो जाते हैं, सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।



यद्यपि पापोदय के कारण जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान / मरघट में हुआ, जन्म के पूर्व ही पिता सत्यन्धर स्वर्गवासी हो गये, माँ विजया भी असहाय हो गयी परन्तु साथ ही पुण्योदय भी ऐसा कि सहयोग और सुरक्षा हेतु स्वर्ग से देवी भी दौड़ी-दौड़ी आ गयी। सत्य है, संयोगों की प्राप्ति में पूर्व पुण्य-पापोदय ही कारण है; जीव की चतुराई उसमें काम नहीं आती।

पुण्यवान जीव कहीं भी क्यों न हो, उसे वहीं अनुकूल संयोग स्वत: सहज ही मिल जाते हैं। विजयारानी के प्रसव होते ही तत्काल चम्पकमाला नामक देवी धाय के भेष में श्मशान में जा पहुँची, उसने अपने अवधिज्ञान से यह जाना कि इस बालक का लालन-पालन तो राजकुमार की भाँति शाही ठाठ-बाट से होनेवाला है, अत: देवी ने विजयारानी को आश्वस्त किया कि आप इस बालक के पालन-पोषण की चिन्ता न करें। इस बालक का पालन -पोषण बड़े ही प्यार से किसी कुलीन खानदान में रहकर धर्मप्रेमी श्रीमन्त दम्पति द्वारा योग्यरीति से होगा। देवी द्वारा की गयी भविष्यवाणी के अनुसार ही जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट और उसकी सेठानी सुनन्दा के घर सुखपूर्वक रहते हुए शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिङ्गत होने लगे। उधर विजयारानी भी वन में तपस्वियों के आश्रम में जाकर धर्म आराधना करते हुए अपने मानव जीवन को सफल करने लगीं।

कुछ काल पश्चात् सुनन्दा ने नन्दाढ्य नाम के पुत्र को जन्म दिया। नन्दाढ्य के साथ ही जीवन्धर का लालन-पालन हुआ और आर्यनन्दी नामक गुरु के पास जीवन्धर का विद्याभ्यास हुआ, जिससे वह थोड़े ही समय में उद्भट विद्वान बन गया।

एक दिन आर्यनन्दी ने (जो इसी भव में इससे पहले मुनि थे और भस्मक व्याधि के कारण उन्हें अपने गुरु की आज्ञानुसार मुनि अवस्था का त्याग करना पड़ा था।) जीवन्धर को एक कथानक के बहाने अपना ही पूर्व वृत्तान्त सुनाया, जो इस प्रकार है –

'विद्याधरों के अधिपति एक लोकपाल नाम के न्यायप्रिय प्रजापालक राजा राज्य करते थे, वे स्वयं तो धर्मात्मा थे ही, प्रजा को भी समय-समय पर धर्मोपदेश दिया करते थे। एकबार राजा लोकपाल ने धनादि वैभव से उन्मत्त हुए अपने प्रजाजनों को वैभव की मेघों की क्षणभंगुरता से तुलना करके उनके वैभव एवं ऐश्वर्य की

क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया तथा स्वयं भी क्षणभंगुर मेघमाला देखकर इस क्षणिक संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये। अकस्मात उन्हें महाभयङ्कर भस्मक रोग हो गया। अतएव अपना मुनिलिङ्ग छेदकर रोग शमन के लिए भटकने लगे। एक दिन वे गन्धोत्कट सेठ के यहाँ भोजन की इच्छा से उनकी भोजनशाला में गये, वहाँ तुम भी भोजन कर रहे थे। तुमने उनकी



भोजनेच्छा को समझ लिया और रसोइया को उन्हें भोजन कराने का निर्देश दिया। भोजनशाला में जितनी खाद्य सामग्री थी, उसको खा लेने पर भी उनकी भूख शान्त नहीं हुई। तब तुमने अपने भोजन में से कुछ भोजन उन्हें दे दिया, उसमें से एक ग्रास खाते ही उसका भस्मक रोग तुरन्त ही शान्त हो गया। उसने इस उपकार के बदले तुम्हें उद्भट विद्वान बनाने का निर्णय लिया।'

इस कथानक को सुनकर जीवन्धरकुमार समझ गये कि यह वृत्तान्त मेरे गुरुवर्य श्री आर्यनन्दीजी का ही है। इसके पश्चात् आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को उनके पिता राजा सत्यन्धर, सेठ गन्धोत्कट और दुष्ट काष्ठांगार का वास्तविक परिचय दिया। वस्तुस्थिति जानकार जीवन्धरकुमार, काष्ठांगार की दुष्टता पर अत्यन्त क्रोधित हुए और काष्ठांगार को मारने के लिए उद्यत हो गये।

कुमार की व्यग्रता देखकर गुरु आर्यनन्दी ने एक वर्ष तक काष्ठांगार को न मारनेरूप गुरुदक्षिणा जीवन्धरकुमार से ली तथा अपने ऊपर किये गये उपकार का कृतज्ञतापूर्वक बदला चुकाकर, अर्थात् जीवन्धर को उद्भट विद्वान बनाकर आर्यनन्दी ने पुनः मुनिदीक्षा धारण की और उसी भव से मोक्ष पधारे।

★ ★ ★

राजपुरी नगरी में ही एक नन्दगोप नाम का ग्वाला रहता था। एक दिन कुछ भीलों ने उसकी गायें रोक लीं। तब दुःखी होकर उसने राजा काष्ठांगार से गायें छुड़ाने के लिए पुकार लगाई। राजा ने अपनी सेना भीलों से गायें वापिस लाने के लिये भेजी, पर जब सेना भी गायें वापिस लाने में समर्थ नहीं हुई, तब नन्दगोप ने नगर

में घोषणा कराई कि 'जो व्यक्ति मेरी गायें छुड़ाकर लायेगा उसे सात सोने की पुतलियाँ पुरस्काररूप में दूँगा और साथ ही अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दूँगा।' जीवन्धर ने घोषणा करनेवालों को रोका और स्वयं जंगल में जाकर भीलों से गायें छुड़ा लाये। तदनन्तर नन्दगोप की कन्या का विवाह अपने मित्र पद्मास्य के साथ सम्पन्न करा दिया।

★ ★ ★

राजपुरी नगरी में ही श्रीदत्त नाम के एक वैश्य रहते थे। वे एक बार धन कमाने के उद्देश्य से नौका द्वारा अन्य द्वीप में गये हुए थे। धनार्जन के पश्चात् जब वे वापिस लौट रहे थे, तब भारी वर्षा के कारण नौका डूबने लगी, तब श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए शोकमग्न व्यक्तियों को समझाने लगे – 'हे विज्ञ पुरुषो! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि यह विपत्तियों का ही बुलावा है; विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयता है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है; अतः तुमको तत्त्वज्ञान प्राप्त करके निर्भय होना चाहिए। तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इसलोक व परलोक में सुखों की प्राप्ति होती है।'

श्रीदत्त आगे कहते हैं कि 'तत्त्वज्ञान, अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति होने पर दुःखोत्पत्ति की हेतुभूत बाह्य वस्तुएँ भी वैराग्योत्पत्ति का कारण बनकर सुखदायक हो जाती है।'

श्रीदत्त आत्मसम्बोधन करते हुए अपने आप से कहता है कि 'हे आत्मन्! जिस प्रकार क्रोध, लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों पर पानी फेर देता है, ठीक उसी प्रकार तृष्णारूपी अग्नि



उभयलोक को नष्ट करनेवाली है।' इस प्रकार श्रीदत्त तो सम्बोधन करते रहे और नौका अतिवृष्टि के कारण समुद्र में डूब गई, परन्तु श्रीदत्त स्वयं एक लकड़ी के सहारे किसी देश के किनारे पहुँच गये।

वहाँ एक अपरिचित व्यक्ति मिला, वह सेठ श्रीदत्त को किसी बहाने विजयार्ध पर्वत पर ले गया और वहाँ पहुँचकर कहा कि 'वास्तव में तुम्हारी नौका डूबी नहीं है, वह तो सुरक्षित है। मैं गान्धार देश की नित्यालोक नगरी के राजा गरुड़वेग का सेवक हूँ, उनके साथ आपकी परम्परागत मित्रता है, उन्हें अपने पुत्री के विवाह के लिये आपके सहयोग की अपेक्षा है; अतः उन्होंने मुझे आपको अपने पास लाने का निर्देश दिया था। समय का अभाव एवं अन्य उपाय न होने से मैंने आपके मन में नौका नष्ट होने का भ्रम उत्पन्न किया और आपको यहाँ ले आया हूँ। अब आप प्रसन्न होकर अपने मित्र गरुड़वेग से मिलिये और उनकी समस्या के समाधान में सहयोग दीजिये।'

श्रीदत्त सेठ और राजा गरुड़वेग का बहुत समय बाद मिलन हुआ। राजा गरुड़वेग ने श्रीदत्त को अपनी कन्या गन्धर्वदत्ता सौंपते हुए कहा 'राजपुरी नगरी में वीणा वादन में जो इसे जीतेगा, वही इसका पति होगा।'

श्रीदत्त, गन्धर्वदत्ता को लेकर घर आये और अपनी पत्नी से सब समाचार सुनाया। श्रीदत्त ने राजाज्ञा लेकर स्वयंवर मण्डप की रचना की और राजपुरी नगरी में घोषणा करायी कि 'जो मेरी कन्या गन्धर्वदत्ता को वीणा वादन में हरायेगा, वही उसका पति होगा।'

जब गन्धर्वदत्ता के साथ वीण-वादन में सभी प्रत्याशी हार

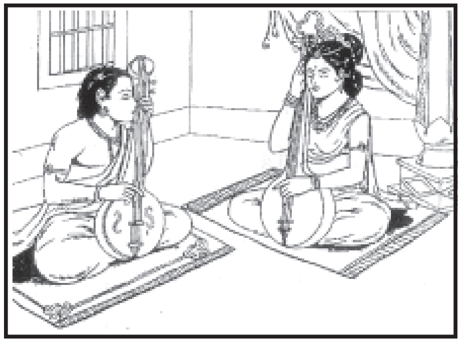

गये, तब जीवन्धरकुमार ने अपनी घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता पर विजय प्राप्त की, परिणामस्वरूप उनका विवाह गर्न्धवदत्ता से सम्पन्न हुआ। इस घटना से काष्ठांगार को ईर्ष्या उत्पन्न हुई, उसने उपस्थित सब राजाओं को जीवन्धरकुमार के विरुद्ध भड़काया और उन्हें जीवन्धकुमार से युद्ध करने की प्रेरणा दी परन्तु सभी राजा युद्ध में जीवन्धरकुमार से पराजित हुए।

★ ★ ★

एक दिन बसन्त ऋतु में जीवन्धरकुमार जलक्रीड़ा देखने नदी किनारे गये हुए थे। वहाँ एक कुत्ते ने यज्ञ सामग्री को जूठा कर दिया था, जिसके कारण दुष्ट लोगों ने उस कुत्ते को मार –मार कर मरणासन्न कर दिया था। उस कुत्ते को जीवन्धरकुमार ने णमोकार महामन्त्र सुनाया; जिससे वह कुत्ते का जीव मरकर यक्षेन्द्र हो गया। कृतज्ञतावश यक्षेन्द्र, जीवन्धरकुमार के पास आया और उनसे बोला कि 'मैं आपका सेवक हूँ, कृतज्ञ हूँ; आपत्ति के समय आप मुझे मात्र स्मरण कीजिये, मैं आपकी सेवा के लिये उपस्थित रहूँगा।' इतना कहकर यक्षेन्द्र चला गया।



इधर जलक्रीड़ा के लिये दो सखियाँ सुरमंजरी और गुणमाला भी आयी हुई थीं, उनके पास अपना-अपना एक विशेष प्रकार का चूर्ण था, जिसकी श्रेष्ठता पर उन दोनों में आपस में विवाद हो गया। विवाद समाप्त करने हेतु तय हुआ कि जिसका चूर्ण अनुत्कृष्ट होगा, वह नदी में स्नान किये बिना ही घर लौट जाएगी। चूर्ण का अनेक परीक्षकों ने परीक्षण किया पर कोई सही निर्णय तक नहीं पहुँच सका। अन्त में जीवन्धरकुमार ने प्रत्यक्ष परीक्षण कर गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण को सर्वोत्तम सिद्ध कर दिया। निर्णय जानकर सुरमंजरी अत्यन्त दुःखी हुई। गुणमाला के अनुनय-विनय करने पर भी वह स्नान किये बिना ही घर वापिस चली गयी।

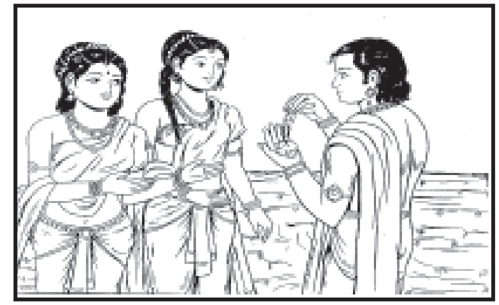

गुणमाला नदी में स्नान करने के पश्चात् जब घर लौट रही थी, तब वह मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी के घेरे में आ गयी। यह देखकर जीवन्धरकुमार ने अपने कुण्डल से तडित कर हाथी को वश में कर लिया और गुणमाला को सङ्कट से मुक्त किया। सहज ही गुणमाला और

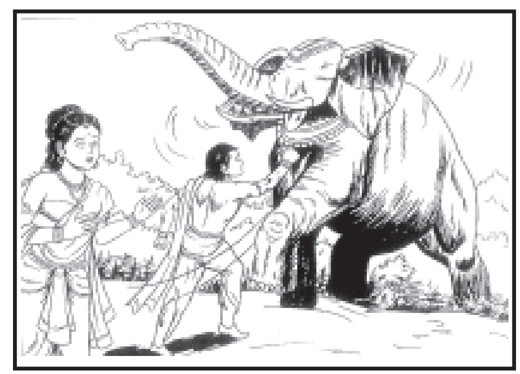

जीवन्धरकुमार में परस्पर स्नेह हो गया; अत: उनके माता-पिता ने उन दोनों का उत्साहपूर्वक विवाह सम्पन्न करा दिया।

कुण्डल द्वारा हाथी को वश में करने के कारण काष्ठांगार, जीवन्धर से बहुत अप्रसन्न एवं क्रोधित था क्योंकि वह मदोन्मत्त हाथी उसका था और अपमानित हाथी ने खाना-पीना छोड़ दिया था।

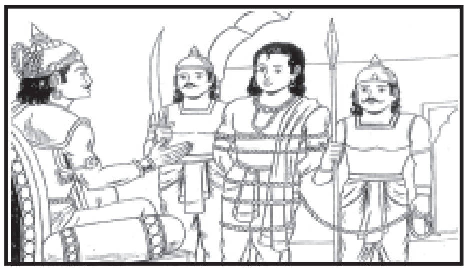

इस घटना से क्षुब्ध काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को बन्दी बनाने के लिए गन्धोत्कट के घर पर सेना भेजी। जीवन्धरकुमार ने सेना से युद्ध करना चाहा किन्तु सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार को युद्ध करने से रोक दिया और उन्होंने स्वयं जीवन्धरकुमार के हाथ बाँधकर काष्ठांगार के पास भेज दिया। जीवन्धरकुमार के हाथ बँधे हुए देखकर भी क्रोधी काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को मारने के लिये सेना को आदेशित किया।

जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही

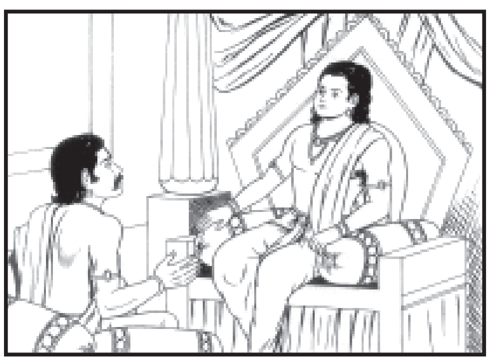

यक्षेन्द्र वहाँ उपस्थित हुआ और जीवन्धरकुमार को अपने साथ चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया तथा वहाँ उनका विशेष आदर सत्कार किया। यक्षेन्द्र ने उन्हें निम्न तीन मन्त्र दिये,



– प्रथम मन्त्र में इच्छानुकूल वेष बदलने की शक्ति थी। दूसरे मन्त्र में मनमोहक गाना गाने की शक्ति थी तथा तीसरे मन्त्र में हालाहल विष को दूर करने की शक्ति थी। यक्षेन्द्र ने कहा कि – 'आप एक वर्ष में अपना राज्य प्राप्त करोगे और राज्यसुख भोगकर इसी भव से मोक्ष प्राप्त करोगे।'

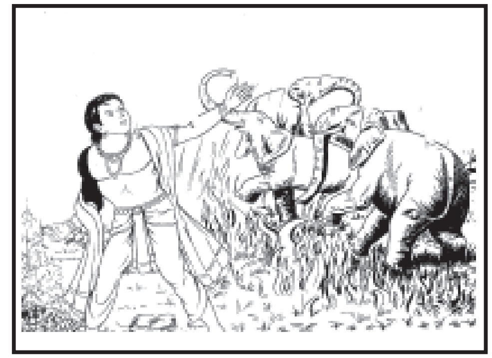

चन्द्रोदय पर्वत से जीवन्धरकुमार तीर्थवन्दना के लिये निकले तो मार्ग में देखते हैं कि एक जंगल में भयङ्कर दावाग्नि लगी हुई है, उसमें हाथियों के समूह को जलते हुए देखकर उन्हें उनकी रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। पुण्यपुरुष जीवन्धरकुमार की भावनानुसार तथा हाथियों के पुण्योदयानुसार उसी समय मूसलाधार वर्षा हुई, जिससे हाथियों की रक्षा हो गयी। सत्य ही कहा है कि – 'पुण्यवान की इच्छा सफल ही होती है।'

★ ★ ★

तीर्थवन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार, चन्द्राभा नगरी पहुँचे। वहाँ के राजा धनमित्र की पुत्री पद्मा सर्पदंश से मरणासन्न अवस्था में थी।

जीवन्धर ने 'विषहारन मन्त्र' से राजकुमारी पद्मा को सर्पविष से मुक्त किया। राजा धनमित्र ने प्रसन्न होकर जीवन्धरकुमार को आधा राज्य दिया एवं राजकुमारी पद्मा का उनसे विवाह कर दिया।

इस प्रकार जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से प्राप्त मन्त्र शक्तियों का सदुपयोग करके परापेकार का कार्य ही किया। हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, न तो पुण्योदय से प्राप्त इन मन्त्र शक्तियों का गर्व करना चाहिए और न ही उनका दुरुपयोग करना चाहिए।

★ ★ ★

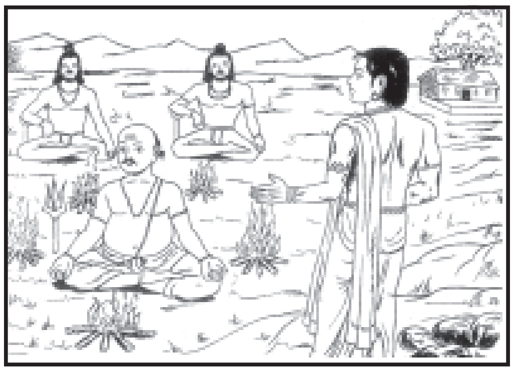

चन्द्राभा नगरी से तीर्थवन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार एक तापसी लोगों के आश्रम में पहुँचे। वहाँ मिथ्यातप करते हुए तपस्वियों को देखकर जीवन्धर को करुणा उत्पन्न हुई। उन्होंने उन तपस्वियों को वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान कराया एवं उन्हें जिनधर्म में प्रवृत्त किया।

आगे तीर्थ-वन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार दक्षिण देश के एक सहस्त्रकूट जिनमन्दिर में पहुँचे। उस मन्दिर के किवाड़ अनेकों वर्षों से बन्द थे। जीवन्धरकुमार ने मात्र भगवान की स्तुति प्रारम्भ की और मन्दिर के द्वार स्वयं ही खुल गये।

मन्दिर के सामने बैठा हुआ पहरेदार जीवन्धरकुमार के पास आया और बोला – 'हे भाग्यवान! इस क्षेमपुरी नगरी में सेठ सुभद्र

रहते हैं, मैं उनका गुणभद्र नाम का नौकर हूँ। सेठ सुभद्र के क्षेमश्री नाम की एक कन्या है। ज्योतिषियों ने उसके जन्म के समय ही बताया था कि जिन भाग्यवान पुरुष के आने पर इस मन्दिर के किवाड़ स्वयं खुलेंगे, वही क्षेमश्री के पति होंगे। अत: कृपया आप यहीं रुकिए, मैं शीघ्र ही सेठजी को यह शुभ समाचार देकर आता हूँ।'

समाचार मिलते ही सेठ सुभद्र, मन्दिर में आकर जीवन्धरकुमार से मिले और उनकी विशेषताओं से प्रभावित होकर जीवन्धरकुमार के साथ अपनी पुत्री क्षेमश्री का विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न कर दिया।

जीवन्धरकुमार को क्षेमपुरी से तीर्थवन्दना हेतु आगे जाते समय मार्ग में एक कृषक मिला, उन्होंने उसे धर्म का ज्ञान कराया और उसे व्रती-श्रावक बनाया तथा उसे पात्र जानकर अपनी शादी में मिले हुए सभी आभूषण दानस्वरूप देकर आगे बढ़ गये।

यात्रा की थकान मिटाने के लिये वे वन में एकान्त स्थान पर विश्राम कर रहे थे, इतने में ही अनंगतिलका नाम की एक विद्याधरी युवती सामने आयी और वह उन्हें देखते ही कामासक्त हो गयी। उसने जीवन्धर को लुभाने के लिए स्त्रीजन्य मायाचारी के बहुत प्रयास किये, किन्तु जीवन्धर अडिग रहे। इतने में ही उस युवती को अपने पति की आवाज सुनाई पड़ी, जो उसके वियोग में पागल जैसा आर्तनाद करता हुआ उसी ओर आ रहा था। उसकी आवाज सुनते ही वह युवती वहाँ से चली गयी। युवक को दु:खी देख जीवन्धरकुमार ने उसे बहुत समझाने का प्रयास किया, तथापि वह उसके वियोग में विह्वल ही रहा।

तदनन्तर जीवन्धर, यात्रा करते हुए हेमाभा नगरी में पहुँचे और वहाँ के राजा दृढ़मित्र के अनुरोध से राजकुमारों को धनुर्विद्या की कला सिखायी। राजा ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमाला का विवाह जीवन्धरकुमार के साथ कर दिया।

कनकमाला से विवाह के पश्चात् जीवन्धर अनासक्तभाव से हेमाभा नगरी में निवास कर रहे थे कि उन्हें एक दिन उनके भाई नन्दाढ्य के अकस्मात् आने का समाचार मिला। वे शीघ्र ही भाई नन्दाढ्य से वहाँ मिलने गये और नन्दाढ्य को पाकर प्रसन्नतापूर्वक उसके गले मिले। कुशलक्षेम पूछने के बाद उन्होंने नन्दाढ्य से अकस्मात् आने का कारण पूछा।

उत्तर में नन्दाढ्य ने बताया कि 'काष्ठांगार ने आपको मार डाला है।' यह ज्ञात होते ही मैं भाभी गन्धर्भदत्ता के पास गया। वहाँ भाभी को प्रसन्नचित्त देख मुझे इस बात का आश्चर्य हुआ कि



आपके मृत्यु का समाचार जानकर भी भाभी कैसे प्रसन्न हैं ? आखिर क्यों ? पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपनी विद्या के बल से यह सब पहले ही ज्ञात कर लिया था कि आप यक्षेन्द्र द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-शान्ति से रह रहे हैं। फिर मेरी आपसे मिलने की इच्छा जानकर उन्होंने ही मुझे विद्याबल से आपके पास भेज दिया है।' इस तरह यहाँ जीवन्धरकुमार की छोटे भाई से भेंट हुई।

★ ★ ★

एक दिन जीवन्धरकुमार चोरों से गायों को छुड़ाने जंगल में गये, वहाँ अपने मित्र पद्मास्य आदि से भेंट हुई। प्रमुख मित्र पद्मास्य ने कहा 'हम जब आपसे मिलने आ रहे थे, तब मार्ग में ही एक आश्रम में विजयामाताजी के दर्शन हुए। माताजी ने जब हमारा परिचय पूछा, तब हमने आपके मित्र होने की बात कही। आपको काष्ठांगार ने बन्दी बनाया था, यह सुनते ही वह मूर्च्छित हो गयीं। मूर्च्छा दूर होने पर हमने बताया कि उसी समय आपकी यक्षेन्द्र ने रक्षा की थी और आप स्वस्थ एवं सुखपूर्वक हैं।'

अपनी जन्मदात्री माता जीवित हैं, यह जानकर जीवन्धर को उनसे मिलने की अतिशय जिज्ञासा एवं चिन्ता हुई। वे शीघ्र ही आश्रम में पहुँचकर माताजी से मिले। उन्होंने काष्ठांगार से अपना राज्य प्राप्त करने सम्बन्धी उनसे सलाह की तथा माताजी को आश्वासन दिया कि 'मैं अब अल्पकाल में स्वयं राजा बनूँगा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।' तदनन्तर जीवन्धर ने माताजी को अपने मामा गोविन्दराज के यहाँ पहुँचा दिया और स्वयं ने राजपुरी नगरी की ओर प्रस्थान किया।

★ ★ ★

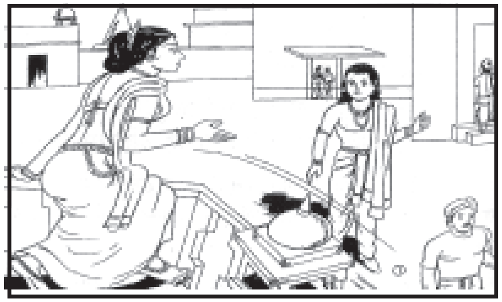

एक दिन श्री जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी में भ्रमण करने गये, तब उनके पास एक गेंद आकर गिरी। यह जानने के लिए गेंद कहाँ से आई है, उन्होंने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई तो एक सुन्दर युवती दिखाई दी। वे उस युवती के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो गये। इतने में ही उस कन्या के पिता सागरदत्त ने आकर जीवन्धर से कहा कि मुझे एक निमित्तज्ञानी ने बताया था कि 'जिस मनुष्य के आगमन से जिस दिन बहुत समय से रखे हुए तुम्हारे रत्न बिक जाएँगे, वही मनुष्य तेरी कन्या का पति होगा। आपके आगमन से मेरे सभी रत्न बिक गये हैं, अत: आप मेरी इस कन्या को स्वीकार करो।' जीवन्धर की स्वीकृति जानकर सागरदत्त ने अपनी कन्या का विवाह जीवन्धरकुमार से करा दिया।

★ ★ ★

एक दिन बुद्धिषेण विदूषक ने जीवन्धर से कहा – 'पुरुषों की छाया भी न सहनेवाली मानिनी सुरमंजरी के साथ आप जब विवाह करेंगे, तब हम आपको पुरुषार्थी मानेंगे।' जीवन्धर ने सुरमंजरी से विवाह करने की योजना बनाई। यक्षेन्द्र के द्वारा 'इच्छानुसार भेष बनाने' के प्रदत्त मन्त्र से एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष का भेष बनाकर सुरमंजरी के महल में प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने मन्त्रसिद्ध सर्वोत्तम गीत गाया, जिससे सुरमंजरी बहुत प्रभावित हुई। वृद्ध को विशेष ज्ञानवान जानकर उसने अपने इच्छित वर प्राप्ति का उपाय



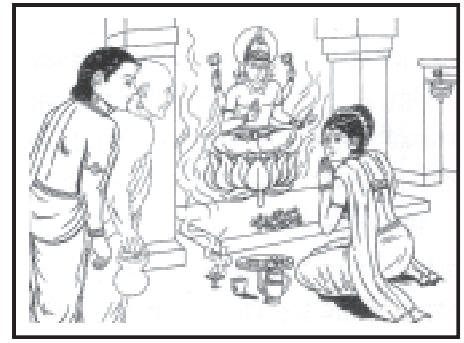

पूछा। वृद्ध ने कहा 'कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी उपासना करने से तुम्हें इच्छित वर की प्राप्ति होगी।'

सुरमंजरी उस वृद्ध पुरुष के साथ कामदेव के मन्दिर में जाने को तैयार हो गयी। जीवन्धरकुमार की योजनानुसार उस कामदेव के मन्दिर में बुद्धिषेण विदूषक छिपकर बैठा था। सुरमंजरी ने पूजोपरान्त कामदेव से पूछा 'मुझे इच्छित वर कब और कैसे मिलेगा।' सुरमंजरी की बात सुनकर छिपा हुआ बुद्धिषेण बोला – 'हे सुन्दरी! इच्छित वर आपको प्राप्त हो चुका है, वह आपके साथ आपके पास ही है।' सुरमंजरी ने वृद्ध की ओर दृष्टि फेरी तो जीवन्धर को सामने खड़ा देखकर वह आश्चर्य में पड़ गयी और लज्जित हो गयी। तदनन्तर सुरमंजरी के पिता कुवेरदत्त ने जीवन्धर से उसका विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करा दिया।

★ ★ ★

सुरमंजरी से विवाह करने के पश्चात् जीवन्धर अपने धर्म माता-पिता सुनन्दा एवं गन्धोत्कट के साथ सुखपूर्वक रहे, फिर अपने मामा गोविन्दराज के पास गये। गोविन्दराज अनेक दिनों से अपने भानजे जीवन्धर को राजा बनाने की योजनाओं पर विचार कर रहे थे। जीवन्धर के अपने घर पहुँचने पर गोविन्दराज के विचारों को और गति प्राप्त हुई। इसी समय दुष्ट काष्ठांगार

का पत्र राजा गोविन्दराज के पास पहुँचा। उसमें लिखा था कि 'महाराजा सत्यन्धर का मरण मदोन्मत्त हाथी के कारण हुआ था; तथापि मेरे पापोदय के कारण उनके मरण का कारण प्रजा मुझे मान रही है; अतः यदि आप मुझसे आकर मिलोगे तो मैं निशल्य हो जाऊँगा।'

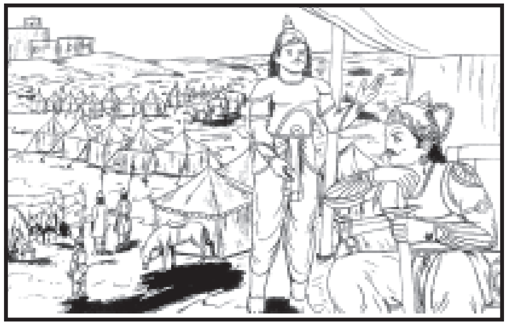

पत्र पढ़कर दुष्ट काष्ठांगार के खोटे अभिप्राय का पता गोविन्दराज को चल गया। गोविन्दराज ने भी अपनी कूटनीतिज्ञ चतुराई के साथ 'काष्ठांगार के साथ हमारी मित्रता हो गयी है' – ऐसा ढ़िढोरा पिटवा दिया और अपनी सेना के साथ राजपुरी नगरी के पास जाकर एक उद्यान में ठहर गये।

वहीं गोविन्दराज ने अपनी कन्या लक्ष्मणा के लिये स्वयंवर मण्डप की रचना की और घोषणा करा दी कि 'जो चन्द्रकयन्त्र को भेदन करेगा, उसी के साथ लक्ष्मणा का विवाह सम्पन्न होगा।'

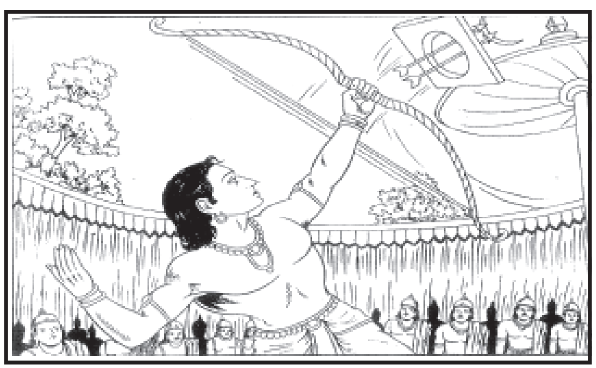

घोषणा सुनकर अनेक धनुर्धारी राजाओं ने स्वयंवर मण्डप में आकर उस यन्त्र को भेदन करने का प्रयास



किया, पर सफलता किसी को नहीं मिली। अन्त में जीवन्धर, आलातचक्र द्वारा उसका भेदन करने में सफल हुए। इस प्रसङ्ग पर ही राजा गोविन्दराज ने जीवन्धर का यथार्थ परिचय सबको दिया – 'जीवन्धरकुमार, महाराजा सत्यन्धर के राजपुत्र और मेरे भानजे हैं।'

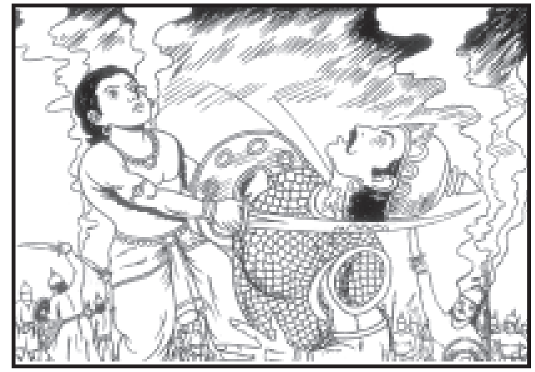

जीवन्धरकुमार के इस परिचय से दुष्ट काष्ठांगार अत्यन्त भयभीत हुआ तथा राजा गोविन्दराज को दिये निमन्त्रण पर पश्चाताप करने लगा; तथापि उसने अन्य राजाओं के बहकावे में आकर जीवन्धर के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। फलस्वरूप युद्ध में काष्ठांगार मारा गया। तब राजा गोविन्दराज ने जीवन्धर का राजपुरी नगरी में वैभव के साथ राज्याभिषेक किया; जिससे सब को आनन्द हुआ। तदनन्तर गोविन्दराज ने अपनी कन्या 'लक्ष्मणा' का विवाह जीवन्धर के साथ हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न करा दिया।

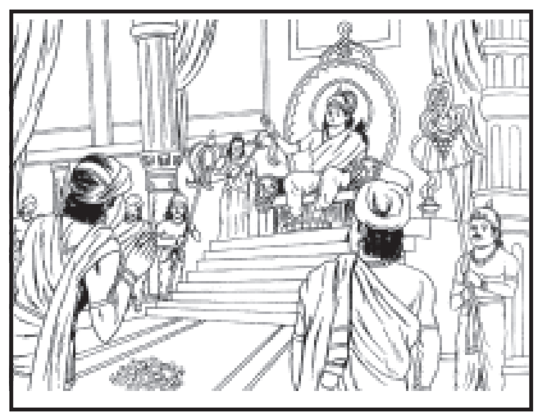

राजा जीवन्धर, नीति-न्यायपूर्वक राजपुरी नगरी में राज्य करने लगे। कुछ

समय पश्चात् राजमाता विजया और सुनन्दा ने पद्मा नामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली और आत्मसाधना करने लगीं। राजा जीवन्धर ने तीस वर्ष तक निर्विघ्न रीति से राज्य किया। उनका प्रजा से पुत्रवत् व्यवहार था। प्रजा अत्यन्त सुखी और प्रसन्न थी। राज्य का कर चुकाना, प्रजा को दान देने के समान आनन्दकारी लगता था।

★ ★ ★

एक समय राजा जीवन्धर, बसन्त ऋतु में अपनी आठों रानियों के साथ जलक्रीड़ा करने के पश्चात उद्यान में विश्राम कर रहे थे। तब वे देखते हैं कि एक बानरी अपने पति बन्दर का अन्य बानरी के साथ सम्पर्क देखकर रुष्ट और अप्रसन्न थी। उस बानरी को प्रसन्न करने के लिए बानर अनेक चेष्टाएँ कर रहा था। बन्दर ने एक कटहल का फल बानरी को देना चाहा, इतने में ही रक्षक माली ने आकर उस फल को छीन लिया। इस घटना का राजा जीवन्धर पर विशेष प्रभाव पड़ा और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा कि यह राज्य कटहल के फल समान है, मैं माली के समान हूँ और काष्ठांगार बानर के समान है।

तत्पश्चात् बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए जीवन्धर ने जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजन की। वहीं चारण



ऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मोपदेश सुनने के बाद अपने पूर्वभव के सम्बन्ध में पूछा।

मुनिराज ने बताया 'तुम पूर्वभव में धातकीखण्ड के भूमितिलक

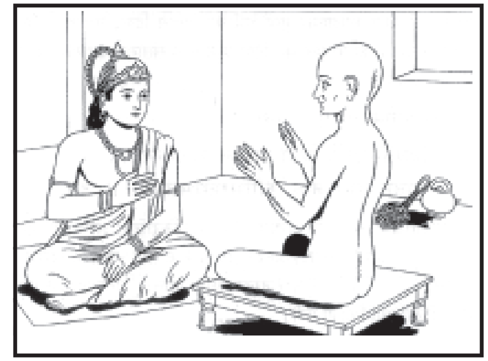

नगर में पवनवेग राजा के यशोधर नाम के पुत्र थे। तुमने बाल्यावस्था में क्रीड़ा करने के लिये हंस के बच्चों को पकड़ लिया था। पिता ने तुम्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया, जिससे तुम्हें अपने उस कार्य का बहुत पश्चाताप हुआ। पिता के रोकने पर भी तुमने जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। उस समय तुम्हारी आठों पत्नियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण कर तुम्हारा अनुकरण किया था, जिससे तुमने आठों देवियोंसहित स्वर्ग में देवपर्याय धारण की। देव आयु पूर्ण करके इस राजपुरी नगरी के राजा जीवन्धर हुए और वे आठों देवियाँ तुम्हारी रानियाँ हुईं। तुमने पूर्व जन्म में हंस के बच्चों को माता-पिता और स्थान से अलग कर पिंजड़े में बन्द किया था, उसके परिणामस्वरूप तुमको अपने माता-पिता से अलग होना पड़ा और बन्धन में रहना पड़ा।'

मुनिराज से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर राजा जीवन्धर की वैराग्यभावना वृद्धिङ्गत हुई और उनहोंने राजमहल में जाकर गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यन्धर को राज्य भार सौंपा और भगवान महावीर के समवसरण में जिनदीक्षा धारण की। आपकी

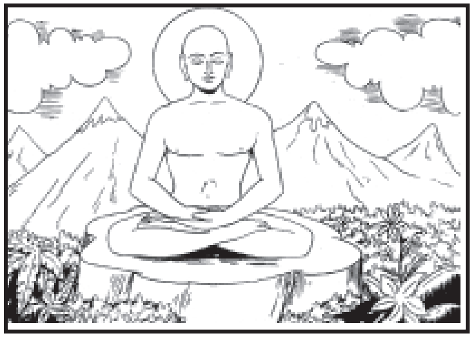

आठों रानियों ने भी अपना शेष जीवन आत्मकल्याण करने में लगा दिया।

मुनिश्री जीवन्धरस्वामी ने घोर तपश्चरण किया और एक दिन आत्मस्थिरता-पूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति कर, अन्त में रेवानदी के किनारे सिद्धवरकूट (मध्यप्रदेश) से सिद्धपद प्राप्त किया, उन्हें हमारा नमस्कार हो। ●

*- ब्रह्मचारी यशपाल जैन*

## पञ्च महाव्रत और नग्नपना भी वास्तविक मुनिपना नहीं

देखो, अशुभ आचरण की तरह शुभ आचरण भी बन्ध का कारण होने से निषेधा है तो फिर मुनिराज किसकी शरण लें? क्या प्रवृत्ति करें? तो कहते हैं कि मुनिवर शुभरागरहित निष्कर्म अवस्था होने पर अन्दर अतीन्द्रिय आनन्दरस से भरे अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रतारूप अर्थात् रमनेरूप प्रवृत्ति करते हैं। 'निष्कर्म अवस्था होने पर' ऐसी भाषा है न? निष्कर्म अर्थात् (शुभाशुभ) कर्म से निवृत्त, ऐसी अवस्था में अर्थात् कि शुद्ध चैतन्यमयी अरागी परिणति में प्रवृत्त होते है। अहाहा! मुनिवर, स्वयं शुद्ध चैतन्यघन भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्दरस-वीतरागरस-शान्तरस से भरा पड़ा है, उसमें प्रवृत्त होते हैं। लो, यह मुनिवरों का अन्तरङ्ग प्रवर्तन है और यही मार्ग है। पञ्च महाव्रत और नग्नपना कहीं वास्तविक मुनिपना नहीं; यह तो जड़रूप बाह्यलिङ्ग है। समझ में आया...?

*( - प्रवचनरत्नाकर, भाग 6, पृष्ठ 74 )*

**4**

# पतितोद्धारक मुनिश्री वारिषेण

भगवान महावीर के समय में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था, उनकी महारानी चेलनादेवी और पुत्र वारिषेण था। राजकुमार वारिषेण की अत्यन्त सुन्दर 32 रानियाँ थीं। इतना होने पर भी वह वैरागी था और उसे आत्मा का ज्ञान था।

राजकुमार वारिषेण एक समय उद्यान में ध्यान कर रहे थे। उधर से ही विद्युत नामक चोर एक कीमती हार की चोरी करके भाग रहा था, उसके पीछे सिपाही लगे थे; पकड़े जाने के भय से हार को वारिषेण के पैर के पास फेंककर वह चोर एक तरफ छिप गया। इधर राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने उसे फाँसी की सजा सुना दी परन्तु जैसे ही जल्लाद ने उस पर तलवार चलाई, वैसे ही वारिषेण के गले में तलवार के बदले फूल की माला बन गयी। ऐसा होने पर भी राजकुमार वारिषेण तो मौनपूर्वक ध्यान में मग्न थे।

यह चमत्कार देखकर उस चोर को पश्चाताप हुआ, उसने राजा से कहा 'हे राजन! असली चोर तो मैं हूँ, यह राजकुमार निर्दोष हैं।'

यह बात सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा याचना की और राजमहल में चलने का आग्रह किया, परन्तु इस घटना से राजकुमार वारिषेण के वैराग्य में वृद्धि हुई और दृढ़तापूर्वक उन्होंने कहा 'पिताजी यह संसार असार है, अब बस होओ! राजपाट में मेरा चित्त नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को साधने में ही लग रहा है; इसलिए अब तो मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।'

ऐसा कहकर वे तुरन्त ही जंगल में आचार्य भगवन्त के पास गये और उन्होंने दीक्षा ले ली... और आत्मा को साधना करने लगे।

★ ★ ★

राज्य के मन्त्री का पुत्र, जिसका नाम पुष्पडाल था, बालपने से ही वारिषेण का मित्र था। उसकी शादी अभी-अभी हुई थी। एक बार वारिषेण मुनि विहार करते-करते पुष्पडाल के गाँव पहुँचे। पुष्पडाल ने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। इस समय अपने पूर्व के मित्र को धर्म-बोध देने की भावना उन मुनिराज को उत्पन्न हुई।

आहार के पश्चात् जब मुनिराज वन की ओर जाने लगे, तब विनय से पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ समय तक चलने पर पुष्पडाल के मन में विचार आया कि गाँव तो अब



पीछे छूट गया है और वन भी आ गया है। मुनिराज मुझे रुकने को कहेंगे तो मैं अपने घर वापस चला जाऊँगा, परन्तु मुनि महाराज आगे बढ़े ही जा रहे थे... मित्र को वापिस जाने को उन्होंने कहा ही नहीं।

पुष्पडाल को घर जाने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को याद दिलाने के लिए कहा 'हे महाराज! जब हम छोटे थे, तब इस तालाब पर आते थे और आम के पेड़ के नीचे साथ-साथ खेलते थे, यह पेड़ गाँव से दो-तीन मील दूरी पर है... हम गाँव से बहुत दूर आ गये हैं।' - यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे वापिस जाने को नहीं कहा।

**अहो, परम हितैषी मुनिराज मोक्ष का मार्ग छोड़कर संसार में जाने को क्यों कहेंगे ?** उन्हें लग रहा था कि मेरा मित्र भी मोक्ष के मार्ग में मेरे साथ चले। मानों वे मन ही मन अपने मित्र से कह रहे हों -

**'हे मित्र! चल... मेरे साथ मोक्ष में,**
**छोड़ परभाव को... झूलें आनन्द में।**
**हमें जाना है मोक्ष में... सुख के धाम में,**
**चल मेरे भाई... अब तू मैं साथ में॥'**

अहा! मानों अपने पीछे-पीछे चलनेवाले को मोक्ष में ही ले जा रहे हों - ऐसी परम निस्पृहता से मुनिराज तो आगे -आगे चल ही रहे थे, साथ में पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे।

अन्त में वे आचार्य महाराज के पास आ पहुँचे। वारिषेण मुनि

ने उनसे कहा – 'प्रभो! यह मेरा पूर्व का मित्र है और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है।'

आचार्य महाराज ने उसे निकट भव्य जानकर दीक्षा दे दी। अहा, सच्चा मित्र तो वही है, जो जीव को भव-समुद्र से बचाये।

अब, मित्र के अनुग्रहवश पुष्पडाल भी मुनि हो गये थे और बाहर में मुनि के योग्य क्रिया करने लग गये थे परन्तु उनका चित्त अभी संसार से छूटा नहीं था। भाव-मुनिपना अभी उन्हें हुआ नहीं था। प्रत्येक क्रिया करते समय उन्हें अपने घर की याद आती थी, सामायिक करते समय उन्हें बारम्बार नव-परणीता पत्नी का स्मरण होता रहता था।

वारिषेण मुनि उनके मन को स्थिर करने के लिए उनके साथ ही रहकर उन्हें बारम्बार उत्तम ज्ञान-वैराग्य का उपदेश देते थे परन्तु अभी उनका मन धर्म में स्थिर हुआ नहीं था। – ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये।

एक बार वे दोनों मुनि भगवान महावीर के समवसरण में बैठे थे। वहाँ इन्द्र, प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं – 'हे नाथ! यह राजभूमि अनाथ होकर आप के विरह में रो रही है और उसके आँसू नदी के रूप में बह रहे हैं।'

अहा! इन्द्र ने तो भगवान के वैराग्य की स्तुति की, परन्तु जिसका चित्त अभी वैराग्य में पूरी तरह नहीं लगा था – ऐसे



पुष्पडाल मुनि को तो यह बात सुनकर ऐसा लगा – 'अरे! मेरी पत्नी भी इस भूमि की तरह बारह वर्ष से मेरे बिना रो रही होगी और दु:खी हो रही होगी। मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह तक नहीं देखा, मुझे भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता; इसलिए अब तो चलकर उससे बात कर आयेंगे। थोड़े समय उसके साथ रहकर बाद में फिर से दीक्षा ले लेंगे।'

– ऐसा विचार करके पुष्पडाल तो किसी को कहे बिना ही घर की तरफ जाने लगे। वारिषेण मुनि उनकी चेष्टा समझ गये। उनके हृदय में मित्र के प्रति धर्म-वात्सल्य जागृत हुआ और 'किसी भी तरह उनको धर्म में स्थिर करना चाहिए' – ऐसा विचार करके उनके साथ चलने लगे और पहले राजमहल की ओर गये।

पूर्व मित्रसहित मुनि बने राजकुमार को महल की तरफ आते देखकर चेलनारानी को आश्चर्य हुआ। वह विचारने लगी – अरे, क्या वारिषेण मुनिदशा का पालन नहीं कर सके, इसलिए लौटकर आ रहे हैं? – तत्पश्चात् उनकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक लकड़ी का आसन और दूसरा सोने का आसन रख दिया, परन्तु वैरागी वारिषेण मुनि तो वैराग्यपूर्वक लकड़ी के आसन पर ही बैठे।

यह देखकर चतुर चेलनादेवी समझ गयी कि राजकुमार का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, अत: उनके आगमन में दूसरा ही कोई हेतु होना चाहिए।

वारिषेण मुनि के आते ही उनके गृहस्थाश्रम की बत्तीस रानियाँ भी दर्शन के लिए आईं। राजमहल के अद्भुत वैभव को और अत्यन्त सुन्दर 32 रूप-यौवनाओं को देखकर पुष्पडाल को आश्चर्य

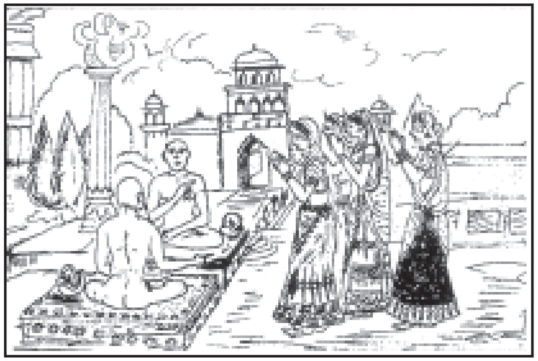

हुआ और वे मन ही मन में सोचने लगे – 'अरे ! ऐसा राजवैभव और ऐसी रूपवती ३२ रानियाँ होने पर भी यह राजकुमार उनके सामने भी नहीं जाता, उनको छोड़ने के बाद उन्हें याद भी नहीं करता और आत्मा को ही साधने में यह अपना चित्त लगाये रखता है। वाह, धन्य है यह ! और मैं तो एक साधारण स्त्री का मोह भी मन से नहीं छोड़ सका। अरे रे, बारह वर्ष का मेरा साधुपना बेकार चला गया।'

तब वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल से कहा – 'हे मित्र ! अब भी यदि तुम्हें संसार का मोह हो तो तुम यहीं रह जाओ ! इस सारे वैभव को भोगो ! अनादि काल से जिस संसार के भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई, अब भी तुम उसे भोगना चाहते हो तो लो, यह सब तुम भोगो !'

वारिषेण की बात सुनकर पुष्पडाल मुनि अत्यन्त शार्मिन्दा हुए, उनकी आँखें खुल गईं, उनका आत्मा जाग उठा।

राजमाता चेलना भी अब सबकुछ समझ गयी और धर्म में स्थिर करने के लिए उन्होंने पुष्पडाल से कहा 'अहो मुनिराज ! आत्मा के धर्म को साधने का ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलता; इसलिए अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह संसार तो अनन्तबार भोग चुके हो, उसमें किञ्चित् भी सुख नहीं है.... इसलिए उससे ममत्व छोड़कर मुनिधर्म में अपना चित्त स्थिर करो।'



वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का बहुत उपदेश दिया... 'हे मित्र, अब तुम अपने चित्त को आत्मा की आराधना में स्थिर करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चलो।'

तब पुष्पडाल ने सच्चे हृदय से कहा 'हे प्रभु ! आपने मुझे जिनधर्म से पतित होने से बचा लिया है और सच्चा उपदेश देकर मुझे मोक्षमार्ग में स्थिर किया है। सच्चे मित्र आप ही हो। आपने धर्म में मेरा स्थितिकरण करके मुझ पर महान उपकार किया है। अब मेरा मन संसार से और इन भोगों से सच में उदासीन हो गया है और आत्मा के रत्नत्रय धर्म की आराधना में स्थिर हो गया है। स्वप्न में

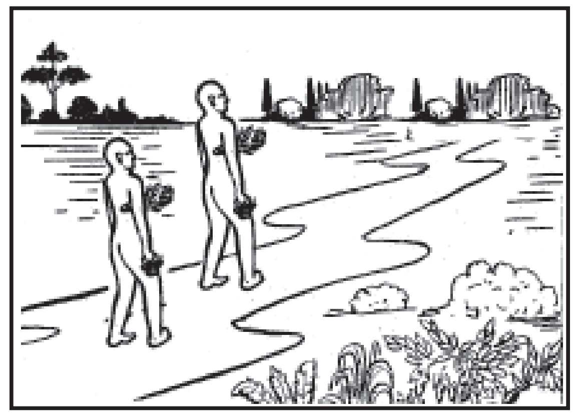

भी अब इस संसार की इच्छा नहीं रही, अब तो मैं भी आपकी तरह अन्तर में लीन होकर आत्मा के चैतन्यवैभव को साधूँगा।'

इस प्रकार पश्चाताप करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हो गये और दोनों मुनिवर वन की तरफ चल दिये। ●

*-ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

# 5

## सुपात्रदान का चमत्कारिक फल

# मुक्ति-साधक धन्यकुमार

अहा! देवता भी शिवसुख की प्राप्ति के लिए जिस उज्जयिनी नगरी में जन्म लेना चाहते हों, उस उज्जयिनी नगरी के गुणों का वर्णन कैसे सम्भव है? उसी उज्जयिनी नगरी में धर्मबुद्धि और धर्मात्माओं के प्रति प्रेम रखनेवाला 'अवनिपाल' नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में सरल स्वभावी 'धनपाल' नामक एक वनिक (सेठ) रहता था। उसके अनेक शुभ लक्षणोंवाली 'प्रभावती' नामक पत्नी थी। इनके परस्पर में प्रेम करनेवाले सात पुत्र थे।

तत्पश्चात् प्रभावती ने आठवें पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म के समय जब उसकी नाल को जमीन में गाड़ने गये तो वहाँ जमीन में से रत्नों का खजाना प्राप्त हुआ।

रत्नों का खजाना मिलने पर पिता धनपाल आदि इस आश्चर्य को देखकर राजा अवनिपाल



के पास गये और कहा 'हे नाथ! मेरे यहाँ उत्तम पुत्र का जन्म हुआ है और उसकी नाल गाड़ते समय मुझे बड़ा खजाना मिला है।' यह सुनकर महाराज बोले 'हे श्रेष्ठी! जिस पुत्र के पुण्य से धन मिला है, वही इसका मालिक है, मुझे प्रजा के किसी धन की अभिलाषा नहीं है।'

महाराज की इस प्रकार की निस्पृहता देखकर धनपाल को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने घर जाकर पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में जिनमन्दिरों में कल्याण के कारणभूत, विघ्न विनाशक जिनेन्द्रभगवान की महापूजा की, कुटुम्बीजनों तथा याचकजनों को अनेक प्रकार का दान देकर सन्तुष्ट किया। पुण्यशाली पुत्र के जन्म से परिजनों के धन्य व कृतार्थ होने के विचार से पुत्र का सार्थक नाम भी 'धन्यकुमार' रखा। वह पुत्र माता-पिता आदि को आनन्दित करता हुआ देवकुमारों की भाँति क्रम से वृद्धिङ्गत होने लगा।

उसे कुमार अवस्था प्राप्त होने पर देव-गुरु और साधुओं का परिचय कराके विद्या, कला आदि के अभ्यास के लिये विद्यागुरु के समीप रखा गया, फलस्वरूप उसने थोड़े ही काल में सभी प्रकार की विद्याएँ प्राप्त कर लीं। वह कुमार अवस्था में भी निर्लोभी रहकर निरन्तर देव-गुरु-धर्म के लिये प्रचुर धन खर्च करता था और दीन-अनाथ आदि को दान देता था।

धन्यकुमार का इस प्रकार निरन्तर उदारता से धन खर्च करना, उसके बड़े भाईयों को सहन नहीं हुआ; उन्होंने एक दिन माता से कहा कि हम सब मेहनत करके धन कमाते हैं और धन्यकुमार उसे खर्च करता रहता है और वह कोई व्यापार भी नहीं करता।

उनकी बात सुनकर प्रभावती ने धनपाल से कहा कि अब धन्यकुमार युवा हो गया है, किन्तु फिर भी आप उसे व्यापार में नहीं लगाते, इस कारण उसके बड़े भाई भी उससे द्वेष करते हैं।

अपनी पत्नी के कहे अनुसार सेठ धनपाल, शुभ मुहूर्त में पुत्र धन्यकुमार को बाजार ले गये और कहा 'पुत्र! अपने पास एक सौ दीनार रखो और बाजार में कोई अच्छी वस्तु बिकने के लिये आवे तो उसे खरीद लेना और उस खरीदी हुई वस्तु से अन्य कोई अच्छी वस्तु बिकने आवे तो उसे खरीद लेना। इस प्रकार भोजन के समय तक खरीदना और भोजन के समय उस वस्तु को नौकरों के साथ लेकर घर आ जाना।' इस प्रकार पिता ने शिक्षा देते हुए उसे एक सौ दीनार व्यापार के लिये दे दिये।

★ ★ ★

सरल हृदय धन्यकुमार बाजार में खड़ा है। वहाँ लकड़ी की गाड़ी बिकने हेतु आई तो धन्यकुमार ने एक सौ दीनार देकर उसे खरीद ली और फिर लकड़ी की गाड़ी को बेचकर...। – इस प्रकार दिन भर खरीद-बेच करता रहा और अन्त में एक चारपाई/खाट खरीदी और भोजन का समय हो जाने से नौकर द्वारा चारपाई उठवाकर धन्यकुमार घर आ गया। उसे घर आया देखकर माता बहुत आनन्दित हुई और कहने लगी कि 'आज धन्यकुमार पहले दिन व्यापार करके घर आया है, अत: उत्सव करना चाहिए।'

धन्यकुमार द्वारा लाई हुई लकड़ी की चारपाई को देखकर सातों बड़े भाई कहने लगे कि 'वाह! कैसी आश्चर्य की बात है कि पिता ने आज ही एक सौ दीनारें दी थीं, जिसे गँवाकर धन्यकुमार



घर आया है, फिर भी हमारी माता उत्सव कर रही है, जबकि हम तो रोजाना बहुत-सा धन कमाकर लाते हैं तो भी हमारी तरफ देखती भी नहीं। अरे! इसमें इसका क्या दोष है? हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का ही दोष है।'

माता ने प्रसन्नचित्त से सातों पुत्रों के इस वचन को हृदय में रख लिया और समस्त पुत्रों से पूर्व धन्यकुमार को भोजन कराकर स्वयं ने भी भोजन कर लिया। फिर एक बड़े बर्तन में पानी भरकर अपने ही हाथ से उत्साहपूर्वक चारपाई के पाये धोने-पोंछने लगी, धोते-पोंछते एक कील से एक पुराना धब्बा मिटाते समय चारपाई का एक पाया टूट गया।

धन्यकुमार के प्रचुर पुण्योदय से उसमें से रत्न बिखरने लगे, साथ ही एक पत्र भी निकला, जिसमें लिखा था कि – 'इस नगरी में पुण्यशाली महाधनी वसुमित्र राजश्रेष्ठी हो गये हैं। उनके प्रचुर पुण्योदय

से उनके यहाँ समस्त भोगोपभोग सम्पदा को देनेवाली नवनिधि उत्पन्न हुई थी। एक दिन वसुमित्र ने उपवन में पधारे हुए अवधिज्ञानी मुनिराज से जाकर पूछा कि प्रभु! ऐसा कौन पुण्यवान नररत्न उत्पन्न होगा कि जो इन नवनिधि का स्वामी होगा? मुनिराज ने अवधिज्ञान से देखकर कहा कि महाराज अवनिपाल की उत्तम राजधानी में

धनपाल सेठ के यहाँ धन्यकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न होगा, वही पूर्वोपार्जित पुण्योदय से इस नवनिधि का स्वामी होगा और उसके द्वारा लोगों को बहुत सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अवधिज्ञानी मुनिराज का वचन सुनकर, वसुमित्र सेठ ने घर जाकर एक पत्र लिखकर उत्तम रत्नों के साथ में चारपाई के पायों में रखकर उन्हें बन्द कर दिया। कुछ समय पश्चात् सेठ वसुमित्र समाधिमरणपूर्वक स्वर्ग सिधारे और उनके पीछे परिवारजन भी मरणदशा को प्राप्त हुए। उनमें से जो सबसे अन्तिम मनुष्य मरण को प्राप्त हुआ, उसे जलाने के लिये चारपाईसहित श्मशान में ले गये और वह चारपाई चाण्डाल को प्राप्त हुई, जिसे पुण्योदय से धन्यकुमार ने चाण्डाल से खरीद ली।

अहो! पुण्योदय से अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी बिना प्रयत्न के चरणों में आ पड़ती है।

धन्यकुमार चारपाई से प्राप्त पत्र को पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस पत्र को लेकर राजा के समीप गया। राजा ने पत्र में लिखे अनुसार समस्त निधियाँ धन्यकुमार के सुपुर्द कर दीं। धन्यकुमार ने उत्कृष्ट नव निधियों को अपने अधिकार में लेकर सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु की महापूजा में अतिधय धन खर्च किया और भक्तिपूर्वक सत्पात्रों को दान दिया तथा दीन-दुखियों को भी इच्छित दान दिया।

इस प्रकार के महान पुण्योदय से धन्यकुमार, परिजनों तथा पुरजनों को अत्यन्त प्रिय होने लगा और ग्राम के अन्य श्रेष्ठी अपनी सुन्दर कन्याओं का सम्बन्ध उसके साथ करने हेतु तत्पर होने लगे,



परन्तु धन्यकुमार का इस प्रकार का अभ्युदय उसके बड़े भाईयों से सहन नहीं हुआ, इस कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे और उसे मार डालने के षडयन्त्र रचने लगे, किन्तु सरल चित्त धन्यकुमार उनके इस दुष्ट अभिप्राय से अनजान था।

एक दिन सातों बड़े भाई धन्यकुमार को मार डालने के अभिप्राय से उसे उपवन की वापिका में जलक्रीड़ा के लिये ले गये और वापिका के किनारे पर बैठे हुए धन्यकुमार को बड़े भाईयों ने पीछे से धक्का देकर वापिका में गिरा दिया व ऊपर से पत्थरों की मार मारने लगे। उस समय धन्यकुमार ने णमोकार मन्त्र का स्मरण किया और इसे अपने पूर्व कर्म का उदय समझकर धैर्य धारण कर सहन किया। सभी बड़े भाई इसे मरा हुआ जानकर वहाँ से चले गये। पश्चात् धन्यकुमार अपने पुण्योदय से बच गये, तब बाहर निकलने पर बड़े भाइयों की दुष्टता पर विचार कर, यह निर्णय किया कि अब घर जाकर दुष्ट भाईयों के साथ रहना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर धन्यकुमार अन्य देश के लिये रवाना हो गये। चलते-चलते एक खेत में किसान को हल चलाते देख उसे आश्चर्य हुआ कि यह किस जाति की विद्या है? मैंने तो कभी ऐसी विद्या देखी नहीं - इस प्रकार उसे देखते-देखते वे अपनी थकान दूर करने के विकल्प से वहीं बैठ गये।

किसान, धन्यकुमार को थका हुआ देखकर उनके हाल -चाल पूछने उनके पास आया, तथा धन्यकुमार को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और विचारने लगा कि अवश्य ही यह कोई महापुरुष है; अतः उसने धन्यकुमार को अपना अतिथि मानकर उनसे निवेदन किया – 'हे सज्जनोत्तम! मेरे पास शुद्ध दही और भात है, उन्हें आप कृपा करके स्वीकार करें, आप मेरे अतिथि हैं।

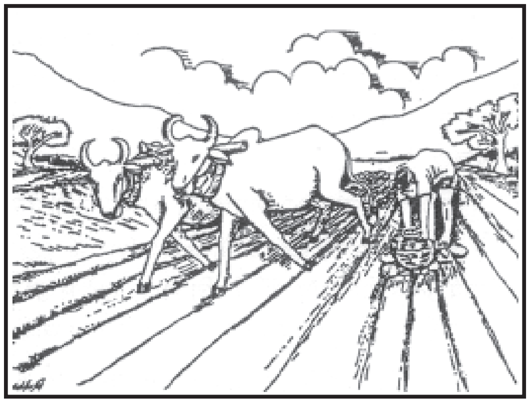

धन्यकुमार की स्वीकृती पाकर किसान को बहुत प्रसन्नता हुई और वह दही-भात परोसने के लिये पात्र (पत्तल) लेने चला गया। इधर कोतुहलवश धन्यकुमार ने हल चलाया तो हल का काँटा एक विशाल सोने की मोहरों से भरे हुए बर्तन से जा टकराया। उसे देखकर धन्यकुमार को लगा कि अरे! ऐसे अपूर्व विज्ञानाभ्यास से बस होओ ? यदि इस विशाल धन को किसान देख लेगा तो वह भी भाईयों की तरह दुष्ट वर्ताव करेगा।

– ऐसा विचार कर उस धन के खजाने पर मिट्टी डाल दी और वापिस यथास्थान आकर बैठ गये।

इतने में ही किसान पात्र (पत्तल) लेकर आ गया और शुद्ध जल से उसे साफ करके दही-भात का भोजन धन्यकुमार को कराकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कुमार भी भोजन करके राजगृह नगर



का मार्ग पूछकर वहाँ से रवाना हो गये। धन्यकुमार के जाने के बाद जब किसान पुनः हल चलाने लगा, तब उसकी नजर धन से भरे खजाने पर पड़ी। उसे देखकर किसान को आश्चर्य हुआ कि अहो! यह धन इन भाग्यशाली के भाग्य से निकला है, इस कारण इसका स्वामी वही भाग्यशाली पुरुष है; अतः यह धन मुझे स्वीकारना योग्य नहीं है।

अहो! देखो, किसान गरीब है, फिर भी उसमें कितनी निर्लोभता और सज्जनता है कि अपने खेत में से इतना बड़ा खजाना मिलने पर भी, मैं उसका स्वामी नहीं, किन्तु जिसके भाग्य से निकला है, वही उसका मालिक है – ऐसा मानता है।

वह किसान धन्यकुमार के पीछे-पीछे आवाज लगाता हुआ दौड़ता है। कुमार भी किसान की आवाज सुनकर खड़े रहते हैं। किसान ने धन्यकुमार के समीप आकर विनम्रता से कहा है कि 'हे भाग्यशाल! आपके पुण्योदय से जो यह खजाना निकला है, आप ही उसके स्वामी हैं।'

धन्यकुमार ने कहा 'हे भाई! मैं तो अपने साथ कुछ लाया नहीं, मैंने तो तुम्हारे दही-भात खाये हैं। जो धन तुम्हारे खेत में से निकला है, तुम्हीं उसके मालिक हो, मैं नहीं।' तब किसान बोला 'हम अपने बाप-दादा के जमाने से यह खेत जोतते हैं परन्तु धन का ऐसा खजाना कभी नहीं मिला; अतः आज जो खजाना निकला है, वह तो आपके पुण्योदय से ही निकला है; इस कारण इसके स्वामी आप ही है।' तब धन्यकुमार ने कहा कि 'भले ही ऐसा हुआ हो परन्तु यह धन का खजाना मैं तुम्हें भेंट देता हूँ, तुम इसे स्वीकार

करो।' इस बात को सुनकर किसान ज्यादा कुछ नहीं बोला सका, मात्र इतना ही कहा 'इस दास के योग्य कोई कार्य-सेवा हो तो अवश्य याद करना।' – ऐसा कहकर वे दोनों अपने-अपने रास्ते चले गये।

★ ★ ★

राजगृही चलने के लिये आगे बढ़ते-बढ़ते धन्यकुमार अपने महाभाग्य से एक अवधिज्ञानी मुनिराज को एकान्त स्थान में बैठे

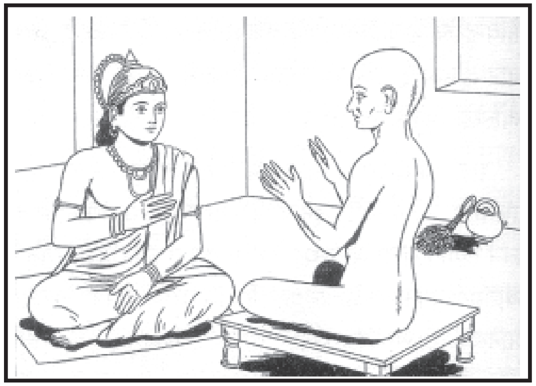

देखते हैं। मुनिराज के दर्शन से धन्यकुमार को बहुत प्रसन्नता होती है।

मुनिराज को वन्दन करके वे उनसे धर्म का स्वरूप पूछते हैं, जिसके उत्तर में मुनिराज विस्तार से धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। उसे सुनकर धन्यकुमार को बहुत आनन्द आता है। तत्पश्चात् वे मुनिराज से पूछते हैं कि प्रभु! मुझे किस पुण्योदय से धन के खजाने मिलते हैं और माता अत्यधिक प्रेम करती है तथा किस पापोदय के कारण भाई मुझसे द्वेष करते हैं – यह सब कृपा करके कहो?'

मुनिराज धन्यकुमार को आसन्नभव्य जानकर उनके पूर्वजन्म की कथा इस प्रकार कहते हैं –

'हे भव्य! तू चित्त को स्थिर करके अपने पूर्वभव की कथा सुन! क्योंकि उसे सुनकर तुझे संसार से वैराग्य उत्पन्न होगा और



धर्म में रुचि होगी, पापों से डर लगेगा; दान, शील, तप, नियमादि में प्रवर्तन होगा। तेरे पूर्व भव की कथा सुनने से अन्य जीवों का भी उपकार होगा।

मगधदेश के अन्तर्गत भोगावती नाम की एक नगरी थी। उसके स्वामी का नाम कामवृष्टि था और उसकी स्त्री का नाम मृष्टदाना था। उसके घर में सुकृतपुण्य नाम का एक नौकर था। जब मृष्टदाना गर्भवती हुई, तब पापोदय से उसके पति कामवृष्टि का मरण हो गया। तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों गर्भ वृद्धिङ्गत होता गया, त्यों-त्यों उसके परिवार के सभी मनुष्य मरते गये। जब पुत्र का जन्म हुआ, तब मृष्टदाना की माता भी मर गयी और पुण्यकर्म भी नष्ट हो गया। अतः बुद्धिमान पुरुषों को अनिष्ट संयोग का प्रधान कारण जो पाप है, उसे प्राण जाने पर भी नहीं करना चाहिए।

जब मृष्टदाना के पास कुछ भी नहीं बचा तो वह उस पापी पुत्र का पेट अनाज पीस-पीसकर भरने लगी। कामवृष्टि के मरणोपरान्त उसका नौकर सुकृतपुण्य, पुण्योदय से भोगावती नगरी का स्वामी बन गया।

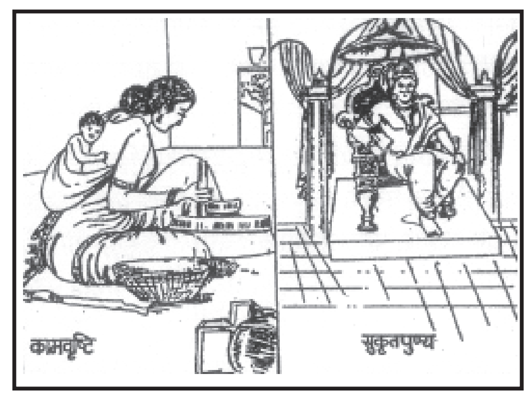


देखो! इस बालक ने पाप के अलावा कभी पुण्यकर्म नहीं किया, इस कारण उसकी दारुण दुःखदायक दशा हुई।

इस कारण से उसकी माता ने अपने उस अभागे पुत्र का नाम अकृतपुण्य रखा।'

इतना सुनकर धन्यकुमार ने मुनिराज से पूछा कि 'हे भगवन्! पापी अकृतपुण्य ने पूर्व में कौन-कौन से पाप किये थे, जिस कारण उसकी ऐसी दुःखदायक दशा हुई।'

मुनिराज धन्यकुमार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आगे की कथा कहने लगे –

★ ★ ★

'इसी देश में भूतिलक नाम का एक सुन्दर नगर था; उसमें महादानी, महाधनी, बुद्धिमान शुभकर्म करनेवाला धनपति नाम का एक सेठ रहता था। एक दिन धनपति सेठ को विचार आया कि यह लक्ष्मी तो पुण्योदय से मिली है और इसका सही उपयोग पात्रदान से ही है परन्तु उत्तम पात्र साधु तो आहार के सिवाय कुछ लेते नहीं, अतः इसका सदुपयोग करने के लिये बड़े-बड़े जिनालय बनवाने चाहिए और जिनालयों में जिनप्रतिमाओं के साथ-साथ चारों अनुयोगों के शास्त्रों को विराजमान करना चाहिए, जिससे अनेक जीव जिनेन्द्र दर्शन, भक्ति, पूजन, स्वाध्याय आदि कर धर्मलाभ प्राप्त करें। इस प्रकार महान पुण्योपार्जन का कारण होने से जिनमन्दिर बनवाकर विशाल पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराने से धन की सफलता होती है – ऐसा विचारकर उसने विशाल जिनमन्दिर बनवाया और उसमें सुन्दर मणि-रत्नों की प्रतिमाएँ पधराईं तथा चारों अनुयोगों के अनेक शास्त्र विराजमान किये, जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। दूर-दूर से यात्री दर्शनार्थ आकर लाभ लेते और महान धर्मप्रभावना होती।



इस वृतान्त को सुनकर एक दुर्व्यसनी चोर ने लोभ के वशीभूत होकर विचार किया कि इन मणि-रत्नों की प्रतिमाओं की चोरी के लिये त्यागी का वेश धारण करने से चोरी में सुगमता रहेगी, इसलिए मायाजाल से कपटपूर्वक ब्रह्मचारी का वेश धारण करके मिथ्या तपश्चरणादि करने लगा और उससे भोले लोगों में उसकी बहुत प्रशंसा होने लगी। गाँव-गाँव में भ्रमण करते हुए वह कपटी ब्रह्मचारी एक बार भूतिलक नगर में आया और धनपति सेठ ने लोगों के मुख से उसकी प्रशंसा सुनी, इस कारण धनपति सेठ, ब्रह्मचारी के पास जाकर विनती करके उसे अपने जिनालय में ले आया। वहाँ उस ब्रह्मचारी ने बगुले की तरह मायाचार के कायक्लेश आदि द्वारा लोगों में मान प्राप्त किया।

एक समय धनपति सेठ ने ब्रह्मचारी से विनती करके कहा कि मैं धन उपार्जन के लिये विदेश जाता हूँ, जब तक मैं वापिस नहीं आऊँ, तब तक आप इस जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाओं की सँभाल रखना, तब कपटी ब्रह्मचारी कहने लगा कि अरे सेठ! हम तो त्यागी हैं, ऐसी उपाधि में हमारा काम नहीं है। फिर भी सेठ अत्यन्त आग्रहपूर्वक ब्रह्मचारी को सब सौंपकर परदेश चला गया।

सेठ के परदेश जाते ही कपटी वेशधारी को मौका मिल गया। उसने जिनालय के कीमती उपकरणों को व्यसनादि के लिये खर्च कर दिया परन्तु ऐसे पाप कब तक छिपे रहते? उसके सम्पूर्ण शरीर में कोढ़ का रोग फूट निकला, जिससे उसे महापीड़ा होने लगी, शरीर महादुर्गन्धमय हो गया। सत्य ही कहा है कि **'अधिक पुण्य अथवा पाप का फल तुरन्त ही आ जाता है।'**

अरे, हलाहल जहर खाना तो ठीक है, क्योंकि वह तो एक ही भव में प्राण हरता है परन्तु निर्माल्य द्रव्य खाने से तो अनन्त भव बिगड़ते हैं। इस बात को ध्यान में लेकर बुद्धिमानों को देव-शास्त्र -गुरु का निर्माल्य द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिए।

ब्रह्मचारी कोढ़ की भीषण वेदना में वहाँ रहता था, तभी सेठ धनपति विदेश यात्रा से घर वापिस आ गया। उसे देखकर ब्रह्मचारी का क्रोध भभक उठा कि अरे पापी सेठ परदेश में मरा नहीं और घर वापिस आ गया। इस प्रकार क्रोध ही क्रोध में उसकी रोग की वेदना बढ़ गई और महारौद्रध्यान से महाकष्ट से प्राण छोड़कर वह सातवें नरक में गया।

वहाँ जाकर विचारता है कि अरे! इन घोर दु:खों का अन्त कब आयेगा? - ऐसा विलाप करता है। इस तरह सातवें नरक के तैंतीस सागर तक दु:ख सहन करके महामच्छ हुआ और वहाँ भी अत्यन्त कठोर पाप किये, फिर सातवें नरक में आया, महादु:ख भोगकर वहाँ से निकलकर त्रस-स्थावर योनियों में बहुत काल तक भ्रमण किया और वहाँ से निकलकर अकृतपुण्य हुआ।'

मुनिराज कथा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि 'वह अकृतपुण्य एक दिन सुकृतपुण्य के खेत पर गया और सुकृतपुण्य की खुशामद करके कहने लगा कि दूसरे लोग तुम्हारे खेत में से चने उखाड़ते हैं, यदि मैं भी उखाड़ूँ तो मुझे क्या दोगे?

अकृतपुण्य के ऐसे दीन वचन सुनकर सुकृतपुण्य विचारने लगा कि अहो! संसार में यह सब कर्मों की ही विचित्रता है। जो स्वामी है, वह तो नौकर हो जाता है और जो नौकर हो, वह स्वामी

हो जाता है। हाय! यह तो मेरे ही सेठ का पुत्र है परन्तु कर्मोदय से मेरे पास याचना कर रहा है। धिक्कार है ऐसे कर्मों को! ऐसा विचारकर दया से सुकृतपुण्य ने उसे स्वर्ण से भरा हुआ कलश दे दिया परन्तु अकृतपुण्य के पापकर्म इतने तीव्र थे कि हाथ में लेते ही उसे वह कलश अग्नि के अंगारों की तरह जलाने लगा, इससे अकृतपुण्य कहने लगा कि 'भाई! तुम दूसरों को तो चने देते हो, तब मुझे ये अंगारे क्यों दे रहे हो?'

यह परिदृश्य देखकर सुकृतपुण्य ने सोचा कि अभी इसके पापकर्म दारुण हैं। अत: उसने कहा कि 'भाई! तू मेरे अंगारे मुझे दे दे और जितने चने तुझसे ले जाएँ जा सकें, ले जा।' अकृतपुण्य अपने साथ जितने चने ले जा सका, उतने चने बाँधकर घर ले गया। उसकी माता ने चने देखकर पूछा कि तू चने कहाँ से लाया?

तब उसने कहा - 'मैं सुकृतपुण्य के खेत पर काम करने गया था, वहाँ से लाया हूँ।' यह सुनकर उसकी माता दु:खित हृदय से विचारने लगी कि 'हाय! जो सुकृतपुण्य हमारा ही नौकर था, वह मालिक हो गया और हम मालिक थे, सो भिखारी हो गये। अहो! भाग्य की गति न्यारी है' - ऐसा विचारकर उसने देशान्तर जाने के लिए चने का नाश्ता बनाया और माता-पुत्र दोनों अन्य गाँव की

ओर रवाना हो गये। दोनों चलते-चलते अवन्ति देश के सोसवाक गाँव में जा पहुँचे और मार्ग की थकावट दूर करने के लिये उस गाँव के सेठ बलभद्र के घर के सामने जा बैठे।

उन्हें देखकर सेठ बलभद्र ने पूछा - 'बहिन! आप कहाँ से आई हो और कहाँ जाने के लिये निकली हो?' यह सुनकर दु:खी मृष्टदाना रोते-रोते कहने लगी - 'भाई! हम मगधदेश से निकले हैं और जहाँ हमारी आजीविका चले वहाँ जाना है।' यह सुनकर सेठ बलभद्र को दया आई, उसने कहा - 'बहिन! यदि तुम्हें आजीविका की आवश्यकता है तो यहीं मेरे यहाँ ही रहो और मेरी रसोई बना दिया करो तथा तुम्हारा पुत्र है, वह मेरी गायों की चर्या कर दिया करेगा। मैं आपको उचित वेतन व भोजनादि दूँगा।' मृष्टदाना ने यह बात स्वीकार कर ली। अत: सेठ ने उनके रहने के लिये अपने ही घर के पीछे की एक झोपड़ी दे दी।

सेठ बलभद्र के सात पुत्र थे। उनके खाने के लिये प्रतिदिन सवेरे खीर का भोजन बनता था। उसे देख-देखकर अकृतपुण्य भी रोजाना अपनी माता के पास खीर खाने के लिये रोया करता था। माता उसे समझाती कि तूने पूर्वभव में कोई पुण्यकर्म नहीं किया; अत: मैं तुझे ऐसा उत्तम भोजन कहाँ से लाकर दूँ? परन्तु अकृतपुण्य तो बालक है, इस कारण रोजाना सेठ के पुत्रों को खीर खाते देखकर माता से खीर माँगता और खीर नहीं मिलने से रोता। यह देखकर सेठ के दुष्ट पुत्र उसे मारते थे। एक बार मारने से उसे अधिक लग गयी और उसका मुँह सूज जाने से विकृत हो गया।

अकृतपुण्य की ऐसी दशा देखकर सेठ बलभद्र ने पूछा कि यह मुख कैसे सूज गया?'



तब उसकी माता ने कहा कि 'यह खाने के लिये खीर माँगा करता था, परन्तु पाप के उदय से खीर कैसे मिल सकती है? उसके बदले में आपके पुत्रों ने इसकी यह दशा की है।' यह सुनकर सेठ को बहुत दया आई और उसने अकृतपुण्य की माता से कहा 'तू मेरे घर से घी, दूध, चावल और शक्कर अपने घर ले जा और उनकी खीर बनाकर पुत्र की अभिलाषा पूर्ण कर।' सेठ के कहे अनुसार वह दूध आदि सामग्री अपने घर लाई और पुत्र से कहा कि 'आज मैं तुझे खीर बनाकर खिलाऊँगी, तू बछड़ों की टहल करके शीघ्र आ जाना।'

अकृतपुण्य प्रसन्नचित्त से बछड़ों की चर्या करने गया और माता के कहे अनुसार जल्दी आ गया। इतने में माता ने खीर बनाकर तैयार कर दी। माता ने अकृतपुण्य से कहा कि 'बेटा! मैं पानी भरकर अभी घर आती हूँ। यदि इतने में कोई साधु आवें तो उन्हें जाने मत देना, क्योंकि उत्तम पात्रदान से महान पुण्य बँधता है। उत्तम पात्रों को दान देने से अपने को उत्तम भोजन मिला करेगा तथा उत्तम पात्रदान से ही गृहस्थाश्रम की सफलता है। हमने पहले कभी दान नहीं दिया, इस कारण दरिद्रता के दु:ख सहन करने पड़ रहे हैं' - इत्यादि प्रकार से धार्मिक भावना समझाकर माता घड़ा लेकर पानी भरने गई।'

इतने में महान पुण्योदय से अकृतपुण्य को रत्नत्रय के धारक व अनेक ऋद्धियों से विभूषित महापात्र 'सुकृत' नामक मुनिराज एक माह के उपवास के पारणे के लिये शरीर की स्थिति के लिये बलभद्र के घर की तरफ आते दिखायी दिये। यह देखकर

अकृतपुण्य शुद्धमन से विचारने लगा कि अहो! यह महान साधु महात्मा हैं।

देखो, इनके पास वस्त्रादिक कुछ भी नहीं है। अहो! मेरे महान पुण्योदय से ये साधु महात्मा पधारे हैं। मैं इनको जाने नहीं दूँगा।'

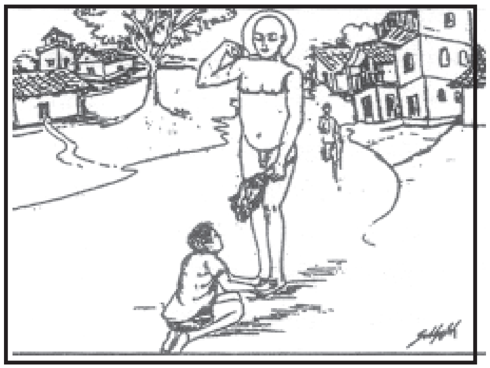

इस प्रकार विचार करते हुए वह मुनिराज के सामने जाकर विनती करने लगा कि 'प्रभु! मेरी माता ने बहुत ही सरस खीर बनाई है, वह आपको भोजन में देनी है। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप यहीं ठहरें। मेरी माता अभी पानी भरकर आती ही हैं' - परन्तु मुनिराज का यह मार्ग नहीं है; इसलिए वे धीमे-धीमे आगे बढ़ने लगे।

तब अकृतपुण्य, मुनिराज के चरण पकड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक पुनः बोला है कि 'तात्! मेरे ऊपर दया करो, कुछ देर खड़े रहो, आप यहाँ से आगे मत पधारो' - इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। इतने में ही उसकी माता पानी भरकर आ पहुँची और मुनिराज को देखकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जैसे अनायास दुर्लभ धन मिलने से दरिद्री को प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता इस समय उसे हुई। उसने तुरन्त अपने सिर से पानी का घड़ा उतारकर मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और - 'हे स्वामी! नमोऽस्तु... नमोऽस्तु... अत्र... अत्र... अत्र... तिष्ठः, तिष्ठः, तिष्ठः, ठः ठः



ठः, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध है' - ऐसा कहकर मुनिराज का पड़गाहन किया।

तत्पश्चात् मुनिराज को घर में ले जाकर उच्च-आसन पर विराजमान किया और नवधाभक्ति से अत्यन्त हर्षित होकर पुत्र के साथ-साथ माता ने मुनिराज को खीर का आहार कराया। मुनिराज को आहार करते देखकर अकृतपुण्य बहुत ही आनन्दित हुआ, इस कारण उसने महान पुण्य का उपार्जन किया। वह विचारने लगा कि 'अहो! आज मैं कृतार्थ हुआ, आज महादान से मेरा जन्म सफल हुआ। अहो! आज मैं कितना भाग्यशाली हूँ। देव, राजा, महाराजा और विद्याधरों से वन्दनीय महापात्र मुनिराज मेरे घर आहार कर रहे हैं।' इस प्रकार अकृतपुण्य उल्लासपूर्वक पवित्र भावना से महान पुण्य का उपार्जन करता रहा।

जितेन्द्रिय योगीराज ने खड़े -खड़े शान्तभाव से पाणिपात्र में आहार करके दाता को पावन किया और शुभ-आशीर्वाद प्रदान कर वन-जङ्गल की तरफ विहार कर गये।

अहा! देखो बालक की उत्तम भावना! कि जो खीर के लिये कितने ही समय से रोता था और जैसे-तैसे सेठ की कृपा से खीर मिली तो भी उसने उसे खाने के लिये ऐसी लोलुपता नहीं की, कि यह खीर मुझे बड़ी कठिनाई से मिली है; अतः मैं किसी को नहीं खाने दूँगा, बल्कि सारी ही खीर मैं खा जाऊँगा; अपितु साधु महाराज को खीर देने के लिये धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है और सद्भाग्य से मुनिराज के आ जाने पर निर्लोभता से, भक्ति से, उल्लापूर्वक खीर का दान देकर आनन्दित होता है।

वे मुनिराज अक्षीण ऋद्धि से विभूषित थे, इस कारण मुनिराज का आहार होने से खीर अक्षीण हो गयी। जब मुनिराज आहार करके चले गये तो मृष्टदाता ने अकृतपुण्य को बहुत खीर खिलाई और स्वयं भी पेट भरकर खाई, तो भी खीर रंचमात्र कम नहीं हुई। यह देखकर उसको बहुत आश्चर्य हुआ और सेठ बलभद्र के कुटुम्ब को भोजन के लिये बुलाया तो भी भोजन कम नहीं हुआ, तब पूरे गाँव को दिन भर भोजन कराया, इस महानदान से माता-पुत्र की बहुत प्रसिद्धि हुई।

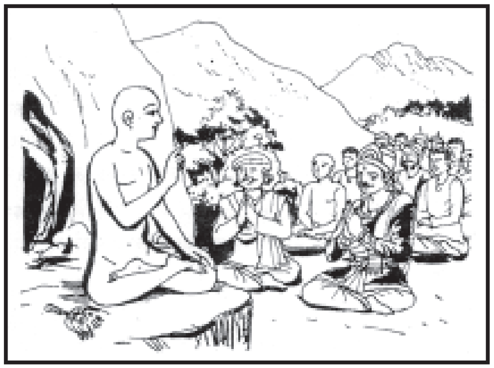

खीर खाकर अकृतपुण्य बछड़ों को चराने के लिये वन में ले गया किन्तु पेट भर गरिष्ट भोजन खाने से उसको निद्रा आ गयी और गायें स्वयं वापिस घर आ गयीं। गायों को अकेला आया देखकर उसकी माता सोचने लगी कि पुत्र वापिस घर क्यों नहीं आया? उसे क्या हुआ होगा? ऐसी चिन्ता से वह रोने लगी और सेठ से उसकी खोज कराने को कहा। मृष्टदाना के आग्रह से सेठ अपने नौकरोंसहित अकृतपुण्य को खोजने के लिये निकला।

इधर जब अकृतपुण्य की निद्रा उड़ी तो उसने गायों को नहीं देखा, अत: व्याकुल होकर उन्हें चारों तरफ खोजते-खोजते घर की तरफ आने लगा। इतने में अपने सामने सेठ बलभद्र को आते देखकर, वह भयभीत होकर पर्वत पर चढ़ गया। बलभद्र ने उसकी



बहुत खोज की परन्तु उसके नहीं मिलने पर वह वापिस घर आ गया।

अकृतपुण्य पर्वत के ऊपर गुफा के दरवाजे पर खड़ा रहा। गुफा में सुव्रत मुनिराज धर्म का उपदेश दे रहे थे; अत: अकृतपुण्य भी उसे प्रसन्नतापूर्वक सुनने लगा।

उपदेश पूर्ण होने के बाद श्रावकगण 'णमो अरहंताणं' का उच्चारण करते हुए गुफा में से बाहर निकले। अकृतपुण्य भी उन लोगों के साथ मन्त्र का उच्चारण करते हुए पीछे-पीछे जा रहा था, इतने में एक क्षुधातुर बाघ ने उसे पकड़ लिया और अकृतपुण्य ने मन्त्र के स्मरणसहित समाधिपूर्वक देह का त्याग किया और उपार्जित किये हुए महान पुण्य के उदय से सौधर्म स्वर्ग में महर्धिक देव हुआ।

अहो! देखो, कहाँ तो उसके प्रबल पापोदय और कहाँ उस दुर्लभ पात्रदान का योग और कहाँ उत्तम भावना से प्राप्त स्वर्ग!

★ ★ ★

इधर रात भर पुत्र के न आने से चिन्तातुर माता सवेरा होते ही सेठ बलभद्र को लेकर पुत्र को खोजने के लिये निकली। वे उसे खोजते-खोजते उसी पर्वत पर जा पहुँचे, कि जहाँ प्रिय पुत्र का आधा खाया हुआ शरीर पड़ा था। उसे देखकर पुत्र की मृत्यु जानकर उसकी माता महाशोकपूर्वक रुदन करने लगी।

इधर अकृतपुण्य स्वर्ग में उत्पन्न होने पर विचार करने लगा कि अहा! मैं कौन हूँ? और यह सुखमय स्थान कौन-सा है? इत्यादि विचार करने पर उसे अवधिज्ञान प्रगट हो गया और पूर्वजन्म

की सारी बातें जान ली तथा अपनी माता को रुदन करते देखकर उसने सर्वप्रथम तो जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की महापूजा-भक्ति की और पश्चात् बहुत वैभव के साथ माता को समझाने के लिये पृथ्वी पर आया। शोक से रुदन करती माता को देखकर उसने कहा कि – 'हे माता! तू रुदन मत कर, मैं ही तेरा पुत्र हूँ परन्तु पात्रदान तथा नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से मैं देव हुआ हूँ।'

– ऐसा कहकर स्वर्ग के उत्तम-उत्तम सुखों का वर्णन किया और अन्त में कहा कि – 'हे माता! यह सब प्रताप दान, व्रत आदि का है; अतः तू भी व्रतादि का पालन कर और रुदन छोड़! रुदन करने से पाप बन्ध होता है। अतः तू दुर्लभ संयम को ग्रहण करके मनुष्य जन्म सफल कर!' इत्यादि सम्बोधन करके देव ( भूतपूर्व पुत्र का जीव) स्वर्ग में गया और माता मृष्टदाना को महान आश्चर्य हुआ कि अहो! कहाँ तो अकृतपुण्य की दारुण दुःखमय दशा और कहाँ महान पात्रदान का लाभ तथा व्रतादि की भावना से स्वर्ग का उत्तम सुख!

– ऐसा जानकर वह भी घर-बार का परित्याग करके, संसार से विरक्त होकर दीक्षित हुई और यथायोग्य तपादि करके समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया। जहाँ अकृतपुण्य का जीव था, वहीं बलभद्र का जीव, देव और मृष्टदाना का जीव, देवी हुआ।

मुनिराज धन्यकुमार से कहते हैं कि 'हे कुमार! वही बलभद्र स्वर्ग में से यहाँ तेरे पिता धनपाल हुए हैं और माता मृष्टदाना स्वर्ग से आकर तेरी माता हुई है, जो पूर्व के स्नेह से तुझ पर विशेष प्रेम रखती है। अकृतपुण्य का जीव पात्रदान के प्रभाव से जो स्वर्ग में



देव हुआ था, वह अब तुम्हारे रूप में धन्यकुमार बना है और बलभद्र के सात पुत्र तुम्हारे भाई के रूप में उत्पन्न हुए हैं, जो तुम्हें मारना चाहते हैं। तुम्हें वर्तमान में जो स्थान-स्थान पर लक्ष्मी, सौन्दर्यता, यश आदि मिलते हैं, वह सब पूर्व के पात्रदान, व्रतादि की भावना का व नमस्कार मन्त्र के स्मरण का फल है। अब तुम इस भव में भी प्रयत्नपूर्वक धर्म करने में सावधान रहना' – इत्यादि आशीर्वाद दिया। धन्यकुमार अपने पूर्व भव जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और धर्म में विशेष दृढ़ हुआ।

★ ★ ★

अब धन्यकुमार, मुनिराज के द्वारा सुनाये गये धर्म के उत्तम फल का विचार करते हुए राजगृही नगर की तरफ जा रहा है। राजगृही नगर के बाहर एक सूखे हुए वन में जाकर विश्राम करता है। जब धन्यकुमार

वन में सूखे वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठता है, तब सारा ही वन एकदम हरा-भरा हो जाता है। सूखी बावड़ी पानी से भर जाती है।

इस वन का मालिक सेठ कुसुमदत्त है। वह अपने वन को सूख जाने से काटने का विचार करता था, इतने में एक अवधिज्ञानी मुनिराज से उनकी भेंट हो गयी। सेठ कुसुमदत्त, मुनिराज को भक्ति से नमस्कार करके पूछता है कि 'प्रभु! यह वन सूख गया है सो

फिर से नन्दनवन समान होगा या नहीं ?' मुनिराज कहते हैं कि 'कोई भाग्यवान पुरुष आकर यहाँ बैठेगा, उस समय यह वन नन्दनवन के समान हो जाएगा।' इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर सेठ कुसुमदत्त उस भाग्यवान पुरुष की प्रतीक्षा करता था।

धन्यकुमार के आने से यह सूखा वन फल-फूलादि से नन्दनवन समान बन जाने से आश्चर्ययुक्त कुसुमदत्त सेठ, धन्यकुमार के पास आकर नम्रता से पूछता है कि 'आप भाग्यशाली कौन हैं ? और किस स्थान से पधारे हैं ?' तब धन्यकुमार कहता है कि 'मैं उज्जैनी का निवासी जैन वणिक पुत्र हूँ।' तब सेठ अत्यन्त प्रसन्नता से कहता है कि 'मैं भी जैनी ही हूँ, इस कारण आप मेरे साधर्मी हैं, अतः आप मेरे घर पधारने की कृपा करें।' सेठ का वात्सल्य देखकर धन्यकुमार उसके घर जाता है। सेठ अत्यन्त आदर-सत्कारपूर्वक उसे घर ले जाता है और अपनी पत्नी से कहता है कि 'यह अपने अतिथि/मेहमान हैं; अतः इनका भलीभाँति स्वागत करना।' सेठानी धन्यकुमार को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और यह मेरा भावी दामाद है - ऐसा जानकर बहुत सत्कार करती है।

कुसुमदत्त सेठ के पुण्यावती नाम की सुन्दर कन्या है। वह धन्यकुमार के रूपादि देखकर मोहित होती है और कुमार की चतुराई की परीक्षा के लिये सुन्दर फूल और डोरा देती है। कुमार उसकी सुन्दर चित्ताकर्षक फूलमाला गूँथ देता है। कुमारी पुण्यावती उस फूलमाला को अपनी सखी राजा श्रेणिक की पुत्री राजकुमार गुणवती को अर्पण करती है। गुणवती, माला देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और पूछती है कि 'ऐसी सुन्दर गूँथी हुई पुष्पमाला



किसने बनाई है ?' तब पुण्यावती कहती है कि 'हमारे घर एक सेठ पुत्र आया है, उसी बुद्धिमान ने बनाई है।' राजकन्या गुणवती, सेठ पुत्री से कहती है कि 'अहो ! तू बहुत भाग्यशाली है, जिससे तुझे ऐसे उत्तम वर की सङ्गति मिलेगी।'

★ ★ ★

एक बार धन्यकुमार बाजार में जाता है और एक सेठ की दुकान पर बैठता है। उसके बैठने से सेठ को व्यापार में बहुत लाभ होने से उसका कारण पुण्यशाली धन्यकुमार को जानकर, वह कुमार से विनती करता है कि 'मेरी पुत्री सुन्दर, रूपवान और गुणवान है, मैं उसका विवाह आपके साथ करूँगा।' इसी तरह दूसरे दिन शालिभद्र सेठ की दुकान पर जाकर कुमार बैठा तो उसे भी व्यापार में बहुत लाभ हुआ। वह इस लाभ का कारण पुण्यशाली कुमार है - ऐसा जानकर कुमार से कहता है कि 'हे भद्र ! कृपया, मेरी सुभद्रा नामक बहिन को स्वीकार कर अनुग्रहीत करें, मैं आपके साथ उसका विवाह कर अपने को भाग्यशाली समझूँगा।' इसी प्रकार अन्य भी कितने ही श्रीमन्तों ने अपनी कन्याओं का विवाह धन्यकुमार के साथ करने का निश्चय किया।

राजा श्रेणिक की पुत्री गुणवती भी धन्यकुमार के रूप-गुण से मोहित होकर दिन-प्रतिदिन दुबली होने लगी। यह जानकर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्रों से सलाह माँगी कि 'गुणवती का विवाह धन्यकुमार के साथ करना उचित लगता है ?'

तब राजपुत्र कहते हैं कि 'पिताजी ! उसकी शूरवीरता आदि की परीक्षा करना चाहिए और उसके लिए नगरी के बाहर राक्षसगृह है, उसे उसमें एक रात्रि रखना चाहिए, यदि वह राक्षसगृह के

उपद्रवों पर विजय प्राप्त कर ले तो गुणवती का विवाह उसके साथ कर देना।' इस प्रकार विचार कर धन्यकुमार से रात्रि में किसी कार्य का बहाना करके राक्षसगृह जाने को कहा। धन्यकुमार ने भी उनका यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। अन्य अनेक श्रीमन्तों ने उसे जाने को मना किया कि जो उस राक्षसगृह में जाता है, वह मृत्यु से बचता नहीं है; अतः आप वहाँ नहीं जावें, परन्तु कुमार तो निडर है, इसलिए उसने किसी की बात न मानकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राक्षसगृह में जाना स्वीकार किया।

धन्यकुमार को राक्षसगृह में आते देखकर गृह का रक्षक राक्षस बहुत प्रसन्न होता है और नमस्कार करके कहता है कि 'हे प्रभु! आप मुझे अपना सेवक समझें, मैंने इतने समय से आपके धन-खजाने से परिपूर्ण इस भवन की रक्षा की है। अब आप आ गये हैं तो अपना धन-खजाना सँभालें और जब कभी भी ऐसी आवश्यकता पड़े, तब इस सेवक को अवश्य याद करना, मैं हाजिर हो जाऊँगा' - ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गया। कुमार रात्रि में सुखपूर्वक वहाँ रहा और प्रातःकाल उठकर सामायिकादि क्रिया करके प्रसन्नतापूर्वक गाँव में आ गया। यह देखकर राजा श्रेणिक आदि को आश्चर्य के साथ यह निर्णय हो गया कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, महान गुणवान पुरुष है - ऐसा जानकर उन्होंने अपनी पुत्री गुणवती का विवाह कुमार के साथ कर दिया और साथ ही आधा राज्य भी दे दिया। अब धन्यकुमार राजा हो गये हैं। यह सब पुण्योदय का फल है, जो धर्म सेवन से होता है - ऐसा जानकर कुमार अत्यन्त रुचिपूर्वक धर्म का



पालन करता है और समय-समय पर धर्म की महान प्रभावना करता है और सुखपूर्वक आनन्द से रहता है।

★ ★ ★

जब धन्यकुमार भाईयों की दुष्टता से गाँव छोड़कर चला आया था, तभी से उनके नव निधि विलुप्त हो गयी तथा सभी हैरान-परेशान होकर उस घर को छोड़कर किसी पुराने मकान में रहने गये तथा भाईयों की दुष्टता से गाँव के लोग उनकी निन्दा करने लगे और कुपुत्रों के पापोदय से धन समाप्त हो गया, पेट भरना भी मुश्किल हो गया, इस प्रकार वे सब महादुःखी हो गये।

एक दिन सेठ धनपाल अपने धनवान भानजे सेठ शालिभद्र के यहाँ जाने को रवाना हुआ। राजगृही पहुँचकर धन्यकुमार के महल के नीचे बैठकर शालिभद्र का मकान कहाँ है ? - यह पूछने लगा। धन्यकुमार महल के ऊपर बैठा था, उसकी नीचे नजर पड़ी कि, 'अहो! ये तो मेरे पिताश्री ही हैं' - ऐसा पहिचानते ही तुरन्त नीचे आकर पिताजी के चरणों में नम्रीभूत हो गया। बेचारे पिताजी तो उस समय फटे हुए कपड़े पहिने भिखारी जैसे हो रहे थे, उन्हें राजा धन्यकुमार को नमस्कार करते देखकर राज्य कर्मचारी और नगरजन आश्चर्य करने लगे। पिता धनपाल तो धन्यकुमार को पहिचान ही नहीं पाये, इस कारण राजा को अपने पैरों में पड़ने से लज्जित हो गये और कहने लगे - 'अहो नराधीश! आप तो महान पुण्यात्मा हो, आप तो पृथ्वीपालक हैं, अतः मुझे आपको नमस्कार करना चाहिए।'

यह सुनकर धन्यकुमार ने कहा कि 'आप ही नमस्कार करने

योग्य हैं, क्योंकि आप मेरे पूज्य पिताजी हैं और मैं आपका सबसे छोटा पुत्र हूँ' – ऐसा सुनते ही पिता, अपने पुत्र को पहिचान लेते हैं और उनकी आँखों से आनन्द की अश्रुधारा बह निकलती है, यही दशा धन्यकुमार की हो जाती है।

धन्यकुमार पिताजी को अपने महल में ले गये और माता तथा भाइयों के कुशल समाचार पूछे। पिताजी ने उसके जाने के बाद घटित समस्त दु:खद वृतान्त कह सुनाया। जिसे सुनकर धन्यकुमार ने सेवकों के साथ धन-धान्य, वस्त्रादि भेजकर उज्जैनी से माता व भाईयों को बुलाने भेजा। माता और भाई धन्यकुमार के समाचार जानकर बहुत आनन्दित हुए और राजगृही आ गये। राजगृही आने पर धन्यकुमार ने माता और भाईयों का बड़ा सत्कार-स्वागत किया और माता-पुत्र परस्पर मिलकर बहुत आनन्दित हुए। कुमार ने सबको रहने के लिये भवन दिये। भाईयों ने अपने अपराध की क्षमा माँगी। पश्चात् धन्यकुमार ने उनके लिये धनादि की समुचित व्यवस्था कर दी। इस प्रकार धन्यकुमार, माता-पिता और सभी भाई सुख-शान्ति से रहने लगे और विशाल जिनमन्दिरों का निर्माण कराकर धर्मध्यान में समय व्यतीत करने लगे।

★ ★ ★

एक दिन धन्यकुमार अपनी पत्नी सुभद्रा का मुख मलिन देखकर पूछते हैं कि 'हे प्रिये! आज तुम्हारा मुख मलिन क्यों दिख रहा है? तुम्हें कुछ शोक है – ऐसा लगता है?' तब सुभद्र कहती है कि 'हे स्वामी! मेरा भाई शालिभद्र बहुत दिनों से कुटुम्ब, घर आदि से उदासीन होकर वैराग्य के चिन्तवनपूर्वक घर में तप का



अभ्यास करता है परन्तु आज ज्ञात हुआ है कि वह जिनदीक्षा लेने के लिये तैयार हुआ है, इस कारण से मुझे शोक है। अन्यथा मैं आपके राज्य में सब प्रकार से अत्यन्त सुखी हूँ।' यह सुनकर धन्यकुमार सुभद्रा से कहता है कि 'मैं अभी जाकर शालिभद्र को सुमधुर वचनों से समझा दूँगा, तू शोक छोड़।'

धन्यकुमार उसी समय अपने साले के घर गया और कहा – 'अरे शालिभद्र! तुम आजकल घर क्यों नहीं आते?' तब शालिभद्र कहता है कि 'हे प्रियवर! संयम बहुत कठिन है, अत: उसकी सिद्धि के लिये घर में रहकर तपश्चरण का अभ्यास करता हूँ; इस कारण आपके यहाँ नहीं आ पा रहा हूँ।'

यह सुनकर धन्यकुमार कहता है कि 'अरे भाई! तुम्हें जिनदीक्षा लेनी हो तो जल्दी करो! जो ऋषभदेव आदि महापुरुष मोक्ष गये हैं, क्या उन्होंने घर में तपश्चरण का अभ्यास किया था? वे तो उल्कापात आदि किञ्चित्मात्र वैराग्य का कारण पाकर करोड़ों वर्षों से भोगे हुए भोगों को क्षणमात्र में छोड़कर तप द्वारा मुक्त हो गये थे; वस्तुत: उन्हें ही पुरुषोत्तम कहा जाता है, तुम तो डरपोक दिखते हो; इस कारण घर में ही रहकर तप का अभ्यास कर रहे हो।

देखो! मैं अभी कठिन दीक्षा और तप को उसके अभ्यास किये बिना ही ग्रहण करता हूँ। क्या तुम नहीं जानते कि पापी काल कब आकर भक्षण कर लेगा, इसका कुछ भी विश्वास करने योग्य नहीं है। इस कारण जो संसार से छूटना चाहता है, उसको जब तक वृद्धदशा नहीं आवे, इन्द्रियाँ शिथिल न होवें, उसके पूर्व ही मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिए' – इत्यादि हितकर और वैराग्यपूर्ण

वचनों से शालिभद्र के रोम-रोम में वैराग्य रस जागृत करके उन्हें तत्काल ही मुनिपद के लिये तैयार कर दिया और स्वयं भी उनसे अधिक विरक्तिपूर्वक अपने घर गये, राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपा और माता-पिता, राजा श्रेणिक आदि से आज्ञा लेकर शालिभद्र आदि अनेक लोगों के साथ भगवान महावीर के समवसरण में गये।

समवसरण में जाकर भगवान के दर्शन-पूजन किये, अनेक प्रकार के गुणगान करके भगवान की भक्ति की; तत्पश्चात् प्रभु से विनती की कि हे नाथ! हमें मोक्ष प्रदायक भगवती जिनदीक्षा प्रदान करो – ऐसा कहकर हाथ जोड़कर खड़े हुए और भगवान की आज्ञा अनुसार धन्यकुमार, शालिभद्र आदि के साथ बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मोक्ष की मातारूपी दिगम्बर दीक्षा अङ्गीकार कर, अनेक प्रकार की कठिन तपश्चर्या करने में तत्पर हुए।

इस प्रकार मुनिराज धन्यकुमार तपश्चरण कर अन्त में सल्लेखना का पालन कर प्रायोपगमन मरण से ध्यान और समाधिपूर्वक बाह्य दश प्राणों का त्यागकर धर्म के प्रभाव से सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए तथा वहाँ से चय कर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मोक्ष जाएँगे।

शालिभद्र आदि मुनिराज भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार तपश्चरण करके समाधिमरणपूर्वक देह त्याग कर यथायोग्य स्वर्गों में गये।

अहो! देखो, पवित्र जैन धर्म की महानता! जो जीव इसे अपने अन्दर उतारता है, उसका कल्याण नियम से होता ही है। देखो,



धन्यकुमार के जीव ने पूर्व में पापी चोर होकर जिनमन्दिर का निर्माल्य द्रव्य चोरी किया, सातवें नरक में गया, वहाँ के घोर दु:ख भोगे। उसके बाद अकृतपुण्य हुआ और मात्र मुनिराज को आहारदान देने की भावनामात्र से महान पुण्यार्जन कर स्वर्ग गया, तत्पश्चात् महाभाग्यशाली के रूप में धन्यकुमार हुआ और मुनि होकर तपश्चरण किया तथा समाधिपूर्वक प्रायोपगमन मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ तथा अगले भव में मोक्ष जाएगा।

ऐसे पापी जीवों को भी पवित्र बनाकर मोक्षमार्ग में लगानेवाला यह महान जैनधर्म हमें भी अपना कर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। ●

*– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

## दिगम्बर मुनिराज तो धर्म के स्तम्भ

भाई! यह वीतरागी परमेश्वर सर्वज्ञ बादशाह का अलौकिक मार्ग है! अहा! दिगम्बर मुनिराज तो मानो धर्म के स्तम्भ! जिन्हें किसी की परवाह नहीं। अन्तर में नग्न और बाहर में भी नग्न; बड़े बादशाह की भी इनको क्या परवाह? स्तवन में आता है न कि – 'जङ्गल वसायुं रे जोगी ने' अहाहा...! जङ्गल में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की लहर में पड़े रहते हैं, ऐसी स्थिति में जरा विकल्प आया और ऐसे शास्त्र रचे गये। उनकी भी मुनिवरों को क्या पड़ी? जङ्गल में सूखे ताड़पत्र पड़े रहते हैं, उन पर कठोर सलाका से शास्त्र लिखकर जङ्गल में ही (उच्च स्थान पर) छोड़कर चले जाते हैं। वहाँ फिर कोई गृहस्थ उन्हें इकट्ठा करके सम्भालकर मन्दिरादि में रख देता है। यह समयसार इसी प्रकार लिखा गया शास्त्र है।

*( – प्रवचनरत्नाकर, भाग 5, पृष्ठ 260 )*

6

# वरांगकुमार का वैराग्य

भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के समय की बात है। उत्तमपुरी नाम की नगरी में धर्मसेन राजा तथा गुणवती रानी रहते थे, उनका पुत्र था वरांगकुमार। वे श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर तथा महाराज श्रीकृष्ण के समकालीन थे।

वरांगकुमार के जीवन का घटनाचक्र बड़ा विचित्र है। युवा होने पर धर्मसेन महाराज ने वरांगकुमार को युवराज पद दे दिया, इस बात से नाराज होकर उसकी सौतेली माता और उसका पुत्र सुषेणकुमार, दुष्ट मन्त्री के साथ मिलकर राजकुमार वरांग को मार डालने की कोशिश करने लगे। उसे दुष्ट घोड़े पर बैठाकर कुएँ में गिराया, वह वहाँ से जिस-तिस प्रकार बचकर निकला, तब फिर बाघ को उसके पीछे लगाया किन्तु पुण्ययोग से हाथी की सहायता के द्वारा वह उससे भी बच गया, फिर अजगर का उपद्रव हुआ, वहाँ एक देवी ने उसे बचाया और उसके शीलव्रत से प्रसन्न होकर वह उसकी भक्त बन गयी।

उसके बाद एक भील बलि देने के लिए उसे पकड़ कर ले गया किन्तु वरांगकुमार ने भील-पुत्र के साँप का जहर उतारा, तब



उसने भी उसे छोड़ दिया। उसके बाद सागरबुद्धि सेठ की वणसार में रहकर उसने सेठ को लुटेरों से बचाया और सुभट के रूप में सेठ ने उसे पुत्र के समान रखा। इस प्रकार सागर सेठ उसका पालक पिता बना।

★ ★ ★

एक बार मथुरा के राजा ने ललितपुर पर चढ़ाई कर दी, तब बहादुर वरांग ने उसको पराजित कर ललितपुर की रक्षा की; इससे ललितपुर के राजा ने उसे आधा राज्य दे दिया तथा अपनी राजकन्या से उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार धर्मात्मा वरांगकुमार ने अनेक उपद्रवों के बाद भी पुण्ययोग से पुनः राजपद प्राप्त कर लिया।

इधर उत्तमपुर में उसका भाई सुषेणकुमार राज्य सम्भाल रहा था परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। बकुलनरेश ने उस पर आक्रमण किया, तब उसने ललितपुर की सहायता माँगी। वहाँ से वरांगकुमार आया और दुश्मन के दाँत खट्टे कर भगा दिया। नगरवासियों ने अपने प्रिय राजा वरांगकुमार का नगर में भव्य स्वागत किया। वरांगकुमार ने सबको क्षमा करके एक नये राज्य की स्थापना की, परिजन तथा पुरजनों को धर्मोपदेश दिया, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा कराई, नास्तिक मन्त्रियों को जैनधर्म का स्वरूप समझाया और प्रजा का ज्ञान बढ़ाने एवं उत्तम संस्कार देने के लिए तत्त्व तथा पुराणों का उपदेश दिया। इसी बीच वरांगकुमार को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम सुगात्र रखा गया।

★ ★ ★

श्री नेमिनाथ प्रभु के गणधर वरदत्त मुनि, केवलज्ञान प्राप्त होने

पर एकबार उत्तमपुरी नगरी में पधारे, तभी वैरागी वरांगकुमार ने उनका धर्मोपदेश सुना। वे युवराज थे और संसार के अनेक सङ्कटों से पुण्ययोग के कारण पार हुए थे। उन्होंने राज्य के बीच रहकर धर्मपालनपूर्वक अनेक मङ्गल कार्य किये थे।

एक दिन आकाश में तारा टूटते हुए देखकर वरांग राजा का चित्त संसार से विरक्त हो गया और वे जिनदीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये। प्रथम तो उन्होंने जिन-पूजन का महान उत्सव किया तथा भावना भायी कि जैनधर्म जयवन्त वर्तो! अर्थात् अरहन्तदेव

के शासन में अनुरक्त चार संघ सदा जयवन्त रहें; जिनालय और जिनवाणी की अतिशय वृद्धि हो; जनता हमेशा आनन्दमय उत्सव मनाती रहे और धर्म के पालनपूर्वक न्यायमार्ग पर चलती रहे; धर्म में पाखण्ड न हो; गुणीजनों का सर्वत्र गुणगान होता रहे; प्रजा में मद्य, माँस और मधु आदि सात व्यसनों के महापाप का समूल नाश हो। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी रानियों को भी तत्त्व का उपदेश देकर सम्यक्त्व और



अणुव्रतों की शिक्षा प्रदान की, साथ ही उन्होंने राज्यसभा में प्रजाजनों को जैनधर्म के पालन का सुन्दर उपदेश दिया।

उसके अन्तर में संसार को पार करनेवाली जिनभक्ति अतिशय उल्लसित होती थी। उनके आँगन में हमेशा विद्वान-धर्मात्मा -सत्पात्रों का सम्मान होता था। पर्व के दिनों में वे संयम का पालन करते थे और धर्म को ही मूल सिद्धिदायक समझते थे। अतः धर्म, अर्थ और काम के बीच में भी वह मोक्ष-साधना भूले नहीं थे, गृहस्थ जीवन में भी उनकी आत्मसाधना चल रही थी। सचमुच धन्य था उनका गृहस्थ जीवन!

★ ★ ★

धर्मात्मा वरांग, राज्यसभा में भी बारम्बार धर्म चर्चा सुनाकर प्रजा को सन्मार्ग दिखाते थे।

एक बार हिंसक-यज्ञ में दोष बताते हुए उन्होंने कहा -

'यज्ञ में होम करने के लिए आये पशु यदि स्वर्ग में जाते हों तो फिर सबसे पहले वे यज्ञकर्ता पुरुष अपने पुत्रादि सगे-सम्बन्धियों को यज्ञ में होम करके उनको ही स्वर्ग में क्यों नहीं भेजते?

यदि यज्ञादि के बहाने मूक प्राणियों की हिंसा करनेवाले और माँस भक्षण करनेवाले भी स्वर्ग में जाएँगे तो फिर नरक में कौन जाएगा? अरे रे..... जिसमें जीवदया नहीं है, वह धर्म कैसा? और हिंसा का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ, शास्त्र कैसे?'

इस प्रकार उन्होंने उपदेश देकर प्रजा को सन्मार्ग दिखाया। वरांग राजा का युक्तिपूर्ण धर्मोपदेश सुनकर विद्वानों, मन्त्रियों, सेनापति, श्रेष्ठिजनों और उनकी प्रज्ञाजनों को बहुत प्रसन्नता हुई

और तत्त्वज्ञानपूर्वक उन्होंने मिथ्यामार्ग का सेवन छोड़कर परम हितकारी जैनधर्म की शरण ली तथा सदाचार में तत्पर हुए।

इस प्रकार प्रजा में सर्वत्र आध्यात्मिक शान्ति का वातावरण फैल गया। यह सत्य ही है कि यदि एक राजा धर्मप्रेमी हो तो प्रजा में भी धर्म फैलता है। इसका स्पष्ट उदाहरण राजा वरांग और उनकी प्रजा को देखकर मिलता है।

विद्वानों और वैरागी राजा वरांग ने राजसभा में जीवादि तत्त्वों का स्वरूप भी स्पष्ट समझाया। उन्होंने कहा -

'देह से भिन्न उपयोगस्वरूप जीव है, वह नये-नये रूप में परिणमित होने पर भी जीवत्वरूप में ही नित्य रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता।

वह जीव अपने ज्ञानमयभाव का कर्ता-भोक्ता है अथवा राग -द्वेष, हर्ष-शोक, क्रोधादि भावों को करता है और जिस भाव को करता है, उसके फल को भी वह भोगता है।

जीव यदि ज्ञानमय वीतरागभाव को करे तो उसके फल में मोक्षसुख प्राप्त करता है। शुभरागादिभाव करे तो उसके फल में स्वर्ग प्राप्त करता है तथा अशुभपापभावों को करे तो उसके फल में नरकादि गति को प्राप्त करता है। शुभाशुभभाव से संसार का भ्रमण होता है और उससे रहित शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भाव से आत्मा मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

उस मोक्ष का उपाय यह है कि अपनी आत्मा को देहादि सर्व परपदार्थों से भिन्न, शुद्ध चैतन्यस्वरूप जानना एवं अनुभव में लेना। - ऐसा शुद्ध आत्मानुभव ही 'धर्म' अर्थात् मोक्षमार्ग है।



इन जीवादि तत्त्वों तथा मोक्षमार्ग को बतानेवाले सर्वज्ञ जिनेश्वर, वह 'देव' हैं। उस मार्ग पर चलनेवाले सर्वज्ञता के साधक साधु ही 'गुरु' हैं।

जो जीव जीवत्वरूप आत्मा तथा देव-गुरु-धर्म को समझता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त जीव हैं; प्रत्येक जीव की आत्मशक्ति (आत्मा का वैभव) अपने-अपने में स्वाधीन है। अपने निज वैभव में से परमात्मपना प्रगट करके प्रत्येक आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन सकता है। उस कार्य को आत्मा स्वयं ही स्वाधीनरूप से कर सकता है, कोई दूसरा उसका कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - ऐसे त्रि-स्वरूप में एकत्वपने रहता है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हो तो बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि कुछ नहीं हो सकते। अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कर्ता जीव स्वयं है, ईश्वर या दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान तो राग-द्वेष से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में रहनेवाले मुक्तजीव हैं। ऐसे सर्वज्ञ भगवान एक नहीं, अनन्त हैं। हम भी रागादि से भिन्न शुद्धभाव प्रगट करके सर्वज्ञ भगवान बन सकते हैं।

जीव कषायभावों के द्वारा कर्म से बँधता है और वीतरागभाव के द्वारा बन्धन से मुक्त होता है; इसलिए वीतरागता ही मुमुक्षु जीव का कर्त्तव्य है।'

वीतरागता का उपदेश देते हुए राजा वरांग आगे कहते हैं -

'जिस भूमि में मीठे आम को बो सकते हैं, उसमें मीठे आम

के बदले कोई निंबोली का कड़वा वृक्ष बोता हो तो उस मूर्ख को क्या कहना ? वैसे ही जो जीव इस मनुष्यपर्याय को कषाय के काम में लगाता है तो उसकी मूर्खता का क्या कहना ? मुमुक्षु तो धर्म साधना के द्वारा अपने जीवन में मोक्ष का बीज बोता है।'

अहो ! वैरागी राजा वरांग, राजसभा में इस धर्म चर्चा को सुना रहे हैं कि – 'जैसे कोई उत्तम पुरुष, रत्नद्वीप में जाकर भी वहाँ के रत्नों के बदले रेत लेकर आवे तो वह मूर्ख है; उसी प्रकार इस उत्तम मनुष्य द्वीप में आकर सारभूत धर्मरत्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करना योग्य है, उसके बदले जो जीव, विषयों को ग्रहण करके मनुष्यभव को गँवा देते हैं, वे मूर्ख हैं। विषयों में लीन प्राणी क्षणभर में विलय को प्राप्त होते हैं; इसलिए जिनदेव द्वारा कहे हुए सम्यक् रत्नत्रय के मार्ग पर चलना ही सुज्ञपुरुषों का कर्तव्य है।

अरे, यह धनादि जड़ सम्पत्ति जीव को क्या सुख दे सकती है ? पुत्र-परिवार जो स्वयं ही अशरण हैं, वे इस जीव को क्या शरण दे सकते हैं और इस विपुल विशाल राज्य के द्वारा परमार्थ की क्या सिद्धि हो सकती है ? ऐसा संयोग तो क्षणभंगुर और पाप को बढ़ानेवाला है। अब इसका मोह छोड़कर परमार्थ साधना में लगना – यही मेरा निश्चय है।'



इन्द्रिय-विषयों में कहीं भी सुख तो है नहीं। अरे, इन विषयों के स्वाद के लिए जीव को कितनी आकुलता करनी पड़ती है। ये तृप्तिदायक नहीं हैं, ये तो दुःखदायक ही हैं। अहो ! इस देह का सौन्दर्य भी क्षणभंगुर है। देखो न ! सनतकुमार चक्रवर्ती का कामदेव के जैसा सुन्दर शरीर, जिसे देखकर देव भी मुग्ध हो जाते थे, वह भी क्षणभर में सड़ने लगा – ऐसी सुन्दरता से आत्मा को क्या लाभ है ? और यदि शरीर कुरूप होवे तो उससे आत्मा को क्या हानि है ? देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व अपने एकत्व में ही सुन्दरता से सुशोभित होता है। अरे, इस लोक में कषाय के कौलाहल से अब हमारा मन उदास हो गया है। संसार के संयोग भी जीव के साथ सदा एक समान कहाँ रहते हैं ? ये तो वियोग स्वभाववाले ही हैं। जब कोई भी संयोग ध्रुव नहीं है, तब फिर वे मुझे शरणरूप कैसे हो सकते हैं ?

अरे ! लक्ष्मी-शरीर-सुख-दुख अथवा शत्रु-मित्र कोई भी जीव के साथ ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो एक उपयोगात्मक जीव ही है।

चाहे जितना धन हो, अथवा बहुत स्नेह रखनेवाले माता -पिता-पुत्र-परिवारजन हों परन्तु जिस समय मृत्यु आती है, उस समय क्या मुझे कोई बचा सकता है ? – नहीं। मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा हमेशा सर्व पर्यायों में उपयोगरूप ध्रुव-निश्चल रहनेवाला है, वही मुझे शरणभूत है.... उसकी ही शरण मुझे जन्म-मरण से बचानेवाली है।

★ ★ ★

इस प्रकार समस्त सभासदों को वैराग्य एवं तत्त्वज्ञान का बोध देकर दृढ़ निश्चयी वरांगकुमार ने अपने माता-पिता से

जिनदीक्षा अङ्गीकार करने का अपना निश्चय बतलाया। उस समय उनके पालक-पिता सागरदत्त सेठ उन्हें दीक्षा लेने के लिए रोकने का प्रयत्न करने लगे, तब वैरागी वरांग युक्तिपूर्वक उनको समझाते हैं –

'हे पिताजी! कुटुम्ब-परिवार या स्नेहीजन मुझे मात्र भोजनादि साधारण कार्यों में ही साथ दे सकते हैं, मृत्यु के समय तो वे भी सभी व्यर्थ हैं, धर्मकार्य में भी वे साथ नहीं दे सकते, तब इनसे मेरा क्या भला हो सकता है? वैसे ही वे जिस समय उनके कर्म अनुसार मृत्यु के मार्ग में जाएँगे, उस समय मैं भी उन्हें सँभालने या बचाने में समर्थ नहीं हूँ। जीव का सच्चा साथी तो वही है, जो कि धर्ममार्ग में साथ देता है।

जैसे मकान में आग लग जाए, तब समझदार मनुष्य बाहर भागने का प्रयत्न करता है परन्तु जो उसका शत्रु होता है, वह उसे पकड़कर आग में फैंकता है; उसी प्रकार, मोह की ज्वाला में धधकता यह संसार है, इस संसार दु:ख की अग्निज्वाला से मैं बाहर निकलना चाह रहा हूँ, अत: हे पिताश्री! किसी शत्रु के समान आप मुझे फिर से उस अग्निज्वाला में मत डालिये अर्थात् घर में रहने के लिए मत कहिये।

जिस प्रकार लहरों से उछलते भीषण समुद्र के बीच अगाध प्रयत्नपूर्वक तैरता-तैरता कोई पुरुष किनारे पर आवे और कोई शत्रु



धक्का देकर उसे पुन: समुद्र में धकेल दे; उसी प्रकार हे पिताजी! दुर्गति के दु:खों से भरे हुए इस घोर संसार-समुद्र में मैं अनादि से डूब रहा हूँ, अत: फिर से आप मुझे इस संसार-समुद्र में मत डालिये।

जैसे कोई मनुष्य शुद्ध-स्वादिष्ट-स्वच्छ अमृत जैसा मिष्ठान्न खाता हो और कोई शत्रु उसमें जहर मिला दे, वैसे ही मैं भी संसार से विरक्त होकर, अन्तर में धर्मरूपी परम अमृत का भोजन ग्रहण करने के लिए तत्पर हुआ हूँ, ऐसे समय में आप उसमें राजलक्ष्मी के भोग का विष मिलाने का शत्रुरूप कार्य न करें।

अरे! मोही जीव संसार के पापकार्यों में ही सहायक होते हैं और पवित्र धर्मकार्यों में विघ्न डालते हैं, उनके समान दूसरा शत्रु कौन हो सकता है?'

वैरागी वरांग अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहते हैं – 'मेरे अन्तर में अभी शुद्धोपयोग की प्रेरणा जागृत हुई है, मेरा मन सबसे विरक्त हो गया है, अब मैं इस संसार की जेल में नहीं रह सकता...., नहीं रह सकता।

यदि जीवन क्षणभंगुर न होता, इष्ट संयोग हमेशा कायम रहनेवाले होते तो कोई भी उन्हें नहीं छोड़ता, लेकिन जीवन की क्षणभंगुरता और संयोगों की अध्रुवता जानकर, विवेकी पुरुष, उन्हें छोड़कर अपने ध्रुव सिद्धपद को साधने के लिए चले जाते हैं... मैं भी उसी मार्ग पर जाऊँगा...।'

तत्पश्चात् दीक्षा के लिए वन में जाते समय उन वैरागी राजा वरांग के स्त्री-पुत्रादि परिवार को भी वैराग्यपूर्ण सम्बोधन प्रदान किया।

उसी समय रानियाँ जब अपने आपको अशरण मानकर रोने लगीं, तब वैरागी वरांग ने उनसे कहा –

'हे देवियों! तुम यदि दुःख से छूटकर सुखी होना चाहती हो तो तुम भी हमारे साथ वैराग्य पथ पर आओ। तुम हमारे साथ दीक्षा लोगी तो यह कोई अपूर्व घटना नहीं होगी, क्योंकि पहले भी अनेक राजा-महाराजाओं के साथ उनकी रानियों ने जिनधर्म के संस्कार तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त करके दीक्षा ली थी; इसलिए तुम भी अपने हित के लिए इस उत्तम मार्ग को अङ्गीकार करो।'

राजा की बात सुनकर रानियों ने भी विचार किया –

'अरे! जिन प्राणनाथ के साथ वर्षों तक संसार को बढ़ानेवाले अनेकों भोग भोगे, जब वे ही ये सभी भोगोपभोग छोड़कर आत्मध्यान करने के लिए जंगल में जा रहे हैं, तब हम क्या इन राजभोगों में पड़े रहकर शृङ्गार करते रहेंगे? नहीं, यह हमें शोभा नहीं देता, हमें भी राजभोगों को छोड़कर उनके ही मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण करना चाहिए।' – ऐसा विचार करके वे रानियाँ भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गयीं। ऐसे सुअवसर को पाकर उनका चित्त भी प्रसन्न हुआ।

वरांग के पालक-पिता सागरबुद्धि सेठ, जिन्होंने विपत्ति के समय में वरांगकुमार का पुत्र के समान पालन किया था, उन्होंने भी दीक्षा के प्रसंग पर कहा –

'हे कुमार! मैं भी तुम्हारे साथ दीक्षा लूँगा। राजकार्य और संसार के भोगोपभोगों में तुमने हमारा साथ दिया, अब इस उत्तम धर्मकार्य में यदि मैं तुम्हारा साथ न देकर अलग हो जाऊँ



तो मेरे समान अधम कौन होगा? तुम धर्म-साधना के उत्तम मार्ग पर जा रहे हो, मैं भी उसी मार्ग पर चलता हूँ।' – इस प्रकार पालक-पिता सागरबुद्धि सेठ भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये।

दीक्षा के लिए जाते समय वरांग राजा ने अपने पुत्रों को अन्तिम आत्म-हितकारी शिक्षा देते हुए कहा –

'हे पुत्रों! लौकिक न्याय-नीति और सज्जनता के उपरान्त, भगवान अरहन्त देव के द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय धर्म को कभी नहीं भूलना। शास्त्रज्ञ विद्वानों की सेवा करना, रत्नत्रय से विभूषित सज्जनों का आदर और समागम करना। जब-जब अवसर मिले, तब-तब मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका – इस चतुर्विध संघ की आदरपूर्वक सेवा करना और रत्नत्रय के साधन में सदा तत्पर रहना। महा मूल्यवान जैनधर्म मिला है, इसलिए आत्मसाधना के द्वारा अपना जीवन सुशोभित करना।'

वीर वरांग राजा जिस समय पुत्रों को धर्म की शिक्षा दे रहे थे, उसी समय वैराग्य का अनुपम सुख उनकी मुद्रा को तेजस्वी बना रहथ था। तत्पश्चात् बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते -करते उन्होंने वन की ओर प्रस्थान किया।

जिस समय वरांगकुमार वैराग्य से वन की ओर जा रहे थे, उन्हें देखनेवाले कितने ही जीवों ने मात्र उनकी प्रशंसा की तथा दूसरे जीव जिनकी आत्मा मरी नहीं थी, जिनका आत्मबल दीन नहीं हुआ था, जो आत्महित में जागृत थे और मोक्ष के लिए उत्सुक थे; वे तो वरांग के साथ ही चल दिये।

'ये युवा राजकुमार आत्महित साधने के लिए वन में जा रहे हैं और हम यहीं हाथ जोड़कर विषय-कषाय में पड़े रहेंगे क्या ? नहीं, यह तो संसार से छूटने का सुनहरा अवसर मिला है।'

– ऐसा विचार कर उन्होंने भी उनके ही साथ वैराग्य से वन में जाने का निर्णय किया। उनकी रानियों ने भी अपना जीवन धर्मसाधना में लगाया और पति के पीछे-पीछे वे भी आर्यिका दीक्षा लेने के लिए वन की ओर जाने के लिए तैयार हो गईं।

★ ★ ★

महाराज धर्मसेन के पुत्र वरांग को बहुत स्नेहपूर्वक दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया और मुनिदशा में अनेक उपसर्ग-परीषह का वर्णन करके चारित्र-पालन की कठिनता बताई, तब वरांगकुमार ने विनयपूर्वक परन्तु दृढ़ता से कहा –

'पिताजी! मुनिपने में जो कठिनता आप बता रहे हैं, वह विषयों के लोलुपी कायरों के लिए कठिन होगी, मोक्षसाधक सिंहवृत्तिवाले जीवों के लिए वह कठिन नहीं है। उन्हें तो मुनिदशा और चारित्र-पालन, सहज आनन्दरूप है, यौवन भी मुझे भोगों में विचलित कर सके – ऐसा नहीं है।

हे पिताजी! यदि चारित्रदशा जवानी में कठिन है तो फिर वृद्धावस्था में उसका पालन कैसे होगा ? इसलिए मैं तो इसी समय आत्मकल्याण के लिए चारित्रदशा अङ्गीकार करूँगा। गृहस्थपने के झूठे बन्धन को तोड़कर स्वतन्त्ररूप से अब मैं वन में मुनिमार्ग में विचरण करूँगा, आप मुझे रोकने की व्यर्थ चेष्टा न करें।

मैं वैराग्य के स्वर्णपात्र में दीक्षारूपी अमृतपान करने के लिए



तत्पर हुआ हूँ, उसी समय आप विषयों को भोगने के लिए कहेंगे तो वह विषपान करने के समान होगा। मुझे शान्ति की ऐसी तीव्र प्यास लगी है कि जो चारित्रधर्मरूपी अमृतपान के द्वारा ही शान्त हो सकती है। धर्म के प्यासे जीव को शान्ति का पान करने से रोकनेवाले के समान और कौन शत्रु होगा ? बाहर का शत्रु तो आक्रमण करके मात्र जड़ सम्पत्ति छीन लेगा अथवा देह के अङ्ग का छेदन कर देगा और अधिक से अधिक प्राण लेगा परन्तु धर्म के आचरण में जो जीव बाधा करता है, वह तो महानिर्दयी है क्योंकि वह एक भव नहीं, अनेक भव के सुख को पाप की धूल में मिला देता है।

जो जीव को धर्म में सहायक हो, वही सच्चा मित्र है। धर्म के बिना यह लम्बी आयु, जवान शरीर या धन-सम्पत्ति किस काम की है ? इसका क्या भरोसा ? क्षणभर में यह सब नष्ट हो जाएँगे।

अरे, सांसारिक भोगों में फँसे हुए गृहस्थ को कैसी-कैसी विपत्ति सहन करनी पड़ती है, वह क्या हम नहीं जानते ?

हे पिताजी! अब मुझे सौभाग्य से शुद्धोपयोग की प्रेरणा जागृत हुई है तो फिर आप ही कहिये कि मुझे राज्य भोगों में आसक्ति कैसे हो सकती है ?'

वरांगकुमार की वैराग्यपूर्ण वार्ता सुनकर महाराज धर्मसेन गद्गद् हृदय से कहने लगे –

'बेटा! ऐसी भरी जवानी में विषय-भोगों को छोड़कर वन में रहना तो बहुत कठिन बात है, वृद्ध हो जाने पर भी हम अभी उन्हें छोड़ नहीं सकते और चारित्रदशा का पालन नहीं कर सकते, तब

तुम युवावस्था में ही विषयों को किस प्रकार जीत सकोगे ?'

दृढ़तापूर्वक वरांगकुमार ने कहा – 'पिताजी! विषयों को छोड़ना कायरों के लिए कठिन हो सकता है, शूरवीरों के लिए नहीं। शूरवीर मुमुक्षु तो चैतन्य की एक झंकारमात्र से सर्व संसार के विषयों को छोड़ देते हैं और मोक्ष की साधना में लग जाते हैं।'

वरांग राजा की ऐसी सरल वैराग्य भीनी युक्तिपूर्ण बात सुनकर महाराज निरुत्तर हो गये और उनका चित्त भी वैराग्य धारण करने के लिए तत्पर होने लगा।

पिताजी ने कहा – 'हे वत्स! तुम्हारी बात परम सत्य है, तुम्हारा भाव वास्तव में दृढ़ और अत्यन्त विशुद्ध है। किसी को धर्मकार्य में बाधा पहुँचाना – यह तो भव-भवान्तर को बिगाड़ने के समान है। मैंने पुत्र-स्नेह वश जो कुछ कहा, उसे तुम लक्ष्य में न लेकर मुनिदीक्षा अङ्गीकार करके आनन्दपूर्वक मोक्ष के पथ में विचरण करो।'

वरांगकुमार, बचपन से ही शान्त, विषयों से विरक्त और अन्तर्मुखी जीवन जीनेवाले थे, धर्म के प्रति उनका उत्साह प्रसिद्ध था।

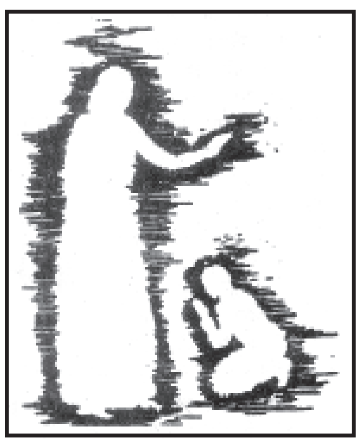

दीक्षा प्रसङ्ग के इस अवसर पर मन्त्री, सेनापति और समस्त नगरजनों से उन्होंने नम्रता से क्षमायाचनापूर्वक विदाई ली। अन्त में वे अपनी माता के पास विदा लेने गये। माता, पुत्र के धर्म-संस्कारों



को समझती थी, अतः उन्होंने गद्‌गद् होकर कहा –

'बेटा! मैं क्या बोलूँ! तुम जिस उत्तम मार्ग में जा रहे हो, उसमें मैं क्या कह सकती हूँ? बेटा! तुम अपनी साधना में शीघ्र सफल होओ और सर्वज्ञ परमात्मा बनकर हमें दर्शन दो – यही अभिलाषा है।'

'धन्य माता' – ऐसा कहकर मस्तक झुकाकर वरांगकुमार वहाँ से विदा हुए।

★ ★ ★

वैरागी वरांग को वन में जाते देखकर लोग आश्चर्यचकित हो अनेक प्रकार की बातें करने लगे।

एक मूर्ख मनुष्य कहने लगा – 'यह वरांग राजा बालबुद्धि हैं। आश्चर्य है कि ऐसे महान राज-सुखों को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को खोजने वन में जा रहे हैं। स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को कौन जानता है? जिसके लिए यह प्रत्यक्ष प्राप्त इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर वन में जा रहे हैं। जिसे देखा नहीं – ऐसे सुख के लिये मिले हुए सुखों को भी छोड़ दिया। ये दोनों को ही खो देंगे। मोक्षसुख के नाम पर इस भोले जीव को किसी ने भड़का दिया है। यहाँ ये सभी इन्द्रियसुख उपलब्ध हैं तो फिर दूसरे कौन से सुख को खोजने के लिए ये वन में जा रहे हैं।'

तभी एक बुद्धिमान सज्जन ने उसे जवाब देते हुए कहा –

'अरे मूढ़! ये वरांगकुमार मूर्ख नहीं, मूर्ख तो तू है। तुझे स्वर्ग -मोक्षसुख की खबर नहीं है, इसलिए तू विषयसुखों में आसक्त है, इसी कारण तू इस प्रकार बकवास कर रहा है। तुझे विषयों से पार

चैतन्यसुख की खबर नहीं है। ये वरांगकुमार तो इन्द्रिय विषयों से पार ऐसे अतीन्द्रियसुख का अनुभव करते हैं। इन्होंने मोक्षसुख का स्वाद साक्षात् चखा है, उसी सुख की पूर्णता को साधने के लिए इन इन्द्रियसुखों को छोड़कर वन में जा रहे हैं। इन्द्रियसुख, वह वास्तविक सुख नहीं, अपितु दुःख ही है। सच्चा सुख तो धर्मसाधना के द्वारा ही प्राप्त होता है। इस विश्वविख्यात सिद्धान्त को क्या तुम नहीं जानते ? तो सुनो –

**अत्यन्त, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनूप, अनंत का।**
**विच्छेदहीन है सुख अहो! शुद्धोपयोग प्रसिद्ध का॥**

ये वरांगकुमार इन्द्रियसुख को छोड़कर इन्द्रपद के लिए नहीं जा रहे हैं। वह तो उन्हें प्राप्त ही हैं, परन्तु वे तो उससे भी पार अतीन्द्रिय मोक्षसुख साधने के लिए जा रहे हैं। पहले भी तीर्थङ्कर भगवन्तों ने राज्यभोगों को छोड़कर उस मोक्षसुख को साधा है। श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर ने भी आत्मा में से ही अतीन्द्रियसुख को साधा है। अतीन्द्रियसुख ही सच्चा सुख है और वह सुख आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है, विषयों में से नहीं।'

बुद्धिमान धर्मात्मा से ऐसी सरल बात सुनकर वह मूर्ख पछताता हुआ कहने लगा –

'अरे, मैंने वरांगकुमार को समझे बिना ही उनकी निन्दा की, मुझे धिक्कार है! अच्छा हुआ कि तुमने सच्ची बात समझा दी। अब मैं भी उस अतीन्द्रियसुख को साधने के लिए राजा वरांग के साथ उनके मार्ग पर जाऊँगा।'

ऐसा कहकर वह भी वैराग्यपूर्वक वरांगकुमार के साथ चला



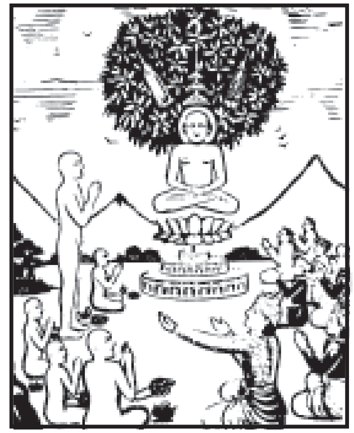

गया। इस प्रकार वरांगकुमार के निमित्त से अनेक भ्रमणा में पड़े हुए जीव भी चैतन्यसुख की श्रद्धा करके विषयों से विरक्त हुए और वरांग राजा के साथ वन में पहुँचे। राजा वरांग के राग-द्वेष का बन्धन तो टूट ही गया था। सुयोग से ठीक इसी समय पास में ही मणिकान्त पर्वत पर वरदत्त केवली भगवन्त विराजमान थे। पहले वे श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर भगवान के मुख्य गणधर थे, फिर वे सर्वज्ञ अरिहन्त हुए और देश-देश में विचरण करके सभी भव्यजीवों को धर्मोपदेश देने लगे।

वैराग्य के धनी ऐसे परमात्मा के दर्शन होने पर वैरागी वरांग के हर्ष का पार न रहा। भक्तिपूर्वक दर्शन-स्तुति करके उन्होंने कहा –

'हे देव! इस संसार से थके हुए जीवों को आप ही विश्राम के स्थान हो। हे प्रभो! धर्म ही आपका शरीर है, केवलज्ञान और केवलदर्शन से आप परिपूर्ण हो, सुख के भण्डार हो, आपकी शान्तमुद्रा के दर्शन से मेरा मोह शान्त हो गया है और अब मैं आपकी चरण-छाया में दिगम्बर जिनदीक्षा लेकर मुनि होना चाहता हूँ। इस संसार भ्रमण से मैं दुःखी हो गया हूँ; इसलिए अब मुझे अपने देश मोक्षपुरी में ले चलो। आपका देश कितना सुन्दर है। जहाँ कभी मृत्यु नहीं होती, कभी जन्म नहीं होता, जहाँ मोह, मद, कर्म की रज भी नहीं है, मात्र शान्ति ही शान्ति है! बस, अब मैं भी इसी देश में-सिद्धपुरी में आकर सदाकाल रहूँगा।'

इस प्रकार प्रार्थना करके उन आत्मज्ञ भव्यात्मा ने केवली प्रभु के चरणों में जिनदीक्षा अङ्गीकार की। वे वस्त्राभूषण एवं सर्वप्रकार का परिग्रह छोड़, मुनि होकर आत्मध्यान में लीन हो गये। इसी समय उन्हें शुद्धोपयोगसहित चारित्रदशा प्रगट हुई, क्षायिकसम्यक्त्व और मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ। अब वे रत्नत्रय के सम्राट, मोह का साम्राज्य छोड़कर मोक्ष के साम्राज्य को सँभाल रहे थे। अब वे शत्रु-मित्र या जीवन-मरण में समभावी थे। आत्मसाधना में उनकी शूरवीरता खिल उठी थी।

राजा वरांग ने दीक्षा ली, उनके साथ रानियाँ भी दीक्षा लेकर आर्यिका बन गयी थीं। दूसरे कितने ही भव्यजीवों ने उनके साथ दीक्षा ली। जो दीक्षा नहीं ले सकते थे, उन्होंने श्रावक के व्रत तथा सम्यक्त्व धारण किया।

'अरे इन्होंने इतने महान वैभव छोड़े हैं, तब हमारे पास तो क्या वैभव है ? इस अल्प वैभव को हम क्यों नहीं छोड़ सकते ?' - ऐसा विचार करके साधारण स्थितिवाले अनेक जीवों ने भी राजा वरांग के साथ ही दीक्षा ले ली। सभी की आँखों में से वैराग्यरस झर रहा था। अपने कल्याण का ऐसा सुअवसर प्राप्त होने पर सभी का चित्त प्रसन्न हो रहा था।

★ ★ ★

सभी को 'राजा वरांग' की अपेक्षा नवदीक्षित 'वरांग मुनि' अच्छे लग रहे थे। उनका मुनिरूप देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। परम भक्तिपूर्वक मुनिराज की वन्दना करके नगरजन उदासचित्त नगर में लौट आये। सभी को राजा वरांग के बिना नगरी सूनी-सूनी लगने लगी। कई दिन तक किसी का चित्त व्यापार



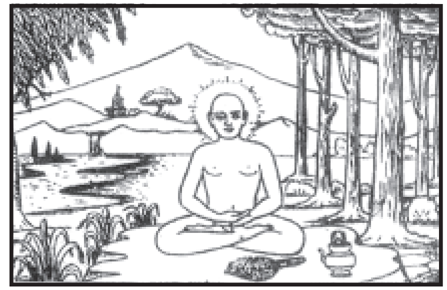

-धन्धे या संसार कार्य में नहीं लगा। चारों ओर वैराग्यपूर्वक धर्मचर्चा ही चलती रही।

दूसरी ओर वन में मुनि और आर्यिका हुए सभी धर्मात्मा/भव्यात्मा अपनी-अपनी आत्मसाधना में अत्यन्त जागृत होकर शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान में तत्पर हुए। मोक्ष-साधना के लिए उनका साहस कोई साधारण न था।

सभी वरांग मुनि आदि नव-दीक्षित होने पर भी मुक्ति के मार्ग से परिचित थे, जिससे मुनि-मार्ग का पालन अतिचारादि दोषों से रहित पूर्णतया कर रहे थे। संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति उनका राग नहीं था। ज्ञायकतत्त्व के चिन्तन में उन्हें ऐसा आनन्द आता था कि अब कोई भी इन्द्रियविषय उनके चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता था। थोड़े ही समय में उन्होंने पूर्ण ज्ञानाभ्यास प्राप्त कर लिया था। शुद्ध चारित्र के पालन के प्रभाव से उन्हें अनेक अचिन्त्य लब्धियाँ तो प्रगट हो गयी थीं..... परन्तु अन्तर के महान आनन्द निधान के सामने बाहर की किसी भी लब्धियों की ओर उनका लक्ष्य नहीं था, उनका लक्ष्य तो एकमात्र स्वलक्ष्यरूप चैतन्य में ही केन्द्रित था।

तीन लोक को क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महा क्रोधमल्ल को उन्होंने परम क्षमाशक्ति के द्वारा जीत लिया था तथा तपरूपी चाबुक के द्वारा दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़े को विषय-वन में जाने से रोक लिया था।

जिस प्रकार भयभीत कछुआ सर्वाङ्ग को अपने में संकुचित कर लेता है, उसी प्रकार संसार से भयभीत और अस्पर्श-योग में अनुरक्त – ऐसे वरांग मुनिराज ने अपने उपयोग को इन्द्रियों से संकुचित करके अपने में अन्तर्लीन कर लिया था।

उनका उपयोग अपने में ही लीन होने से उन्हें इस जगत सम्बन्धी कोई भय नहीं था। बाहर में उपसर्ग या परीषह आने पर भी उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता था। वे हमेशा बारह प्रकार की वैराग्य-भावनाओं का चिन्तवन करते थे। वे राज्यावस्था में जिस प्रकार शत्रु-सेना को जीतते थे, वैसे ही अब मुनिदशा में मोहसेना को जीतने के लिए उद्यम कर रहे थे। इस प्रकार बारम्बार शुद्धोपयोग के प्रहार द्वारा उन्होंने क्रोधादि मोहसेना का पराभव किया।

मुनिराज वरांग की आयु जब एक माह शेष रही, तब अपनी दीक्षाभूमि मणिकान्त पर्वत पर आकर उन्होंने समाधि धारण की, वह उनके गुरु वरदत्त केवली की भी निर्वाणभूमि थी। भगवान नेमिनाथ तीर्थङ्कर का भी मोक्षगमन यहीं से हुआ था।

उन सभी को हृदय में विराजमान करके उन्होंने – दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को अखण्ड रूप से चित्त में धारण किया।

महावैरागी वीतरागी दिगम्बर वरांग मुनिराज देह त्यागकर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। मोक्षपुरी के एकदम समीप पहुँचे गये। सर्वार्थसिद्धि की आयु पूरी कर अगले भव में वे केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद को पायेंगे। उन्हें हमारा नमस्कार हो। ●

*– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

**7**

# परिणामों की परख

एक जंगल की एक रमणीक गुफा में एक भद्रपरिणामी सुअर रहता था, उसी जंगल में एक बाघ भी रहता था, जो क्रूरपरिणामी था।

एक वीतरागी मुनिराज विचरण करते हुए, उस जंगल में आये और जिस गुफा में सुअर रहता था, उस गुफा में विराजमान होकर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मध्यान करने लगे।

मुनिराज को गुफा में देखकर, भद्रपरिणामी सुअर को ऐसा शुभविचार आया कि अहा! यह कोई वीतरागी महात्मा मेरी गुफा में पधारे हैं, इन्हें देखकर मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है, इनके पधारने से मेरी गुफा धन्य हुई है। मैं किस प्रकार इनकी सेवा करूँ? – ऐसे शुभभावपूर्वक वह सुअर गुफा के दरवाजे पर बैठकर मुनिराज की रक्षा करने लगा।

उसी समय गुफा के पास आते हुए बाघ को ऐसा अशुभभाव आया कि मैं इस मनुष्य (मुनिराज) को मारकर खा जाऊँ।

वहाँ स्थित शुद्धोपयोग में लीन वे मुनिराज, न तो सुअर के प्रति राग करते हैं और न ही बाघ के प्रति द्वेष करते हैं, वे तो सच्चे

वीतरागी सन्त थे न!

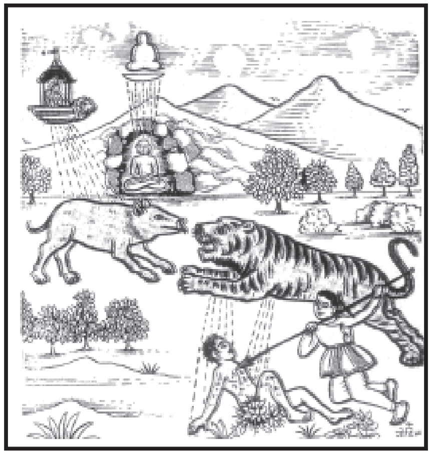

मुनिराज को खाने के लिए वह बाघ गुफा के पास आया है – ऐसा ख्याल सुअर को आते ही उसने तुरन्त ही बीच में आकर बाघ को रोकने का प्रयास किया।

बाघ उस पर टूट पड़ा.... बाघ और सुअर दोनों लड़ने लगे, खूब लड़े, क्रूर बाघ के सामने भी सुअर ने बराबर की टक्कर ली, उसके मन में एक ही धुन थी कि प्राण देना पड़े तो भी मैं मुनिराज को बचाऊँगा। दोनों बहुत लड़े, एक तो मुनिराज के रक्षण के लिए और दूसरा मुनि के भक्षण के लिए लड़ रहा है।

लड़ते-लड़ते दोनों ने एक-दूसरे को मार डाला.... दोनों में से बाघ तो मरकर नरक में गया और सुअर मरकर स्वर्ग में गया। मुनिराज तो इस घटनाक्रम से अप्रभावित आत्मध्यान में ही वीतरागभाव से विराजमान रहे और केवलज्ञान प्रगटाकर पञ्चम गति (मोक्षगति) को प्राप्त हुए।

इस दृष्टान्त में तीन पात्र हैं – **( 1 ) सुअर का जीव,** जिसे कषाय में मुनि को बचाने का प्रशस्तभाव/शुभराग वर्तता है।

**( 2 ) बाघ का जीव,** जिसे कषाय में मुनि को मारने का अप्रशस्तभाव/द्वेषभाव वर्तता है।

**( 3 ) मुनिराज,** जो अकषाय/वीतरागभाव में वर्तते हैं।



अब, इसमें हिंसा-अहिंसा किस प्रकार है, इसका विचार करते हैं –

जब हम सुअर और बाघ के परिणामों की तुलना करते हैं, तब बाघ की अपेक्षा सुअर का भाव अच्छा दिखायी देता है तथा बाघ की अपेक्षा सुअर की हम प्रशंसा भी करते हैं।

बाघ के द्वारा मुनि की हिंसा नहीं हुई, फिर भी बाघ को अपने क्रूरपरिणाम के कारण हिंसा का पाप लगा और वह नरक में गया। सुअर के द्वारा बाघ की हिंसा हुई, फिर भी वह अपने शुभपरिणाम के कारण स्वर्ग में गया; इसलिए मात्र बाह्य में जीवों का मरना या बचना, वह हिंसा-अहिंसा नहीं है, बल्कि जीवों के भाव के अनुसार ही हिंसा-अहिंसा है।

इस दृष्टान्त में मुनि की हिंसा भले ही न हुई हो तो भी बाघ द्वारा मुनि को मार डालने के हिंसकभाव को तो किसी प्रकार से भी अच्छा नहीं कहा जा सकता। मुनि को मारने की अपेक्षा मुनि को बचाने का रागभाव ही प्रशंसनीय कहा जाएगा। ***किन्तु*** –

अभी भी अपनी बात अधूरी है, क्योंकि अभी तक तो हमने केवल सुअर और बाघ के भावों की तुलना की है, लेकिन तीनों पात्रों को मिलाकर तुलना करना अभी शेष है।

जब हम मुनिराज को भी साथ में रखकर विचार करते हैं, तब हमें पता चलता है कि वीतरागभाव में विराजमान मुनिराज का भाव ही श्रेष्ठ भाव है, वही अत्यन्त प्रशंसनीय है और उस वीतरागीभाव की तुलना में सुअर का प्रशस्तराग भी प्रशंसनीय नहीं है।

मुनिराज का वीतरागभाव ही परम अहिंसारूप होने से उसकी

हम प्रशंसा करते हैं और वही मोक्ष का कारण है। उस वीतरागभाव के सामने सुअर के रागभाव को हम 'परम' अहिंसा नहीं कह सकते, अपितु उसे भी 'हिंसा की कक्षा में ही रखा जाएगा।' भले ही उस राग को 'प्रशस्त' विशेषण लगावें, तो भी उसे हिंसा तो कहना ही पड़ेगा, क्योंकि जितना राग है, उतनी हिंसा है।

जिस प्रकार पीतल को प्रशस्त विशेषण लगावें और 'प्रशस्त पीतल' ऐसा कहें, तब भी उसे 'स्वर्ण' की जाति में तो नहीं रख सकते; उसी प्रकार कोई रागादिरूप हिंसा को प्रशस्त विशेषण लगावे, किन्तु इससे वह अहिंसा तो नहीं हो जाएगी; अतः शुभरागवाला वह सुअर का जीव भी आगे चलकर जिस समय राग का अभाव करके चैतन्यभाव प्रगट करेगा, उसी समय वह 'वीतरागभावरूप अहिंसा' धर्म के द्वारा मोक्ष को साधेगा। यही 'अहिंसा परमो धर्मः' का स्वरूप है।

मुनि के वीतरागभाव को और सुअर के रागभाव को हमने एक कक्षा में नहीं रखा, क्योंकि दोनों की जाति एक-दूसरे से विरुद्ध है। मुनि को मारने के भाव की अपेक्षा, बचाने का भाव उत्तम होते हुए भी दोनों की कक्षा एक है। जैसे एक ही वर्ग में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में एक प्रथम नम्बर से पास हो और दूसरा अन्तिम नम्बर से पास हो, तो भी दोनों की कक्षा एक ही है।

बाघ और सुअर दोनों में जितना रागादि कषायभाव है, उतनी हिंसा है तथा जो हिंसा है, वह अहिंसा नहीं है; इसलिए धर्म भी नहीं है। **मुनिराज का वीतरागभाव ही अहिंसा है और वही धर्म है। ऐसे वीतरागी अहिंसा धर्म की जय हो!** ● - *ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

**8**

# परिवर्तन परिणामों का

धन-धान्य एवं सुवर्णादि से पूर्ण इस मगधदेश में पूर्वकाल में एक वर्धमान नाम का नगर था; जो वन, उपवन, कोट एवं खाइयों से युक्त और अत्यन्त शोभनीय था। उस नगर में अनेकों ब्राह्मण यद्यपि वेदों के ज्ञाता थे, तथापि भयङ्कर अज्ञानतावश वे पुण्य-प्राप्ति के नाम पर यज्ञ में पशु आदि की बलि चढ़ाते थे। इसी नगर में ऐसा ही एक आर्यवसु नाम का ब्राह्मण भी था, वह कर्मकाण्ड में प्रवीण था, उसकी पत्नी सोमशर्मा थी, जो सीता के समान सुशील एवं पतिव्रता थी। उसके भावदेव और भवदेव नाम के दो पुत्र थे, जो चन्द्र-सूर्य के समान शोभते थे। जाति से ब्राह्मण होने के कारण उन्होंने वेद, शास्त्र, व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष, संगीत, काव्य-अलङ्कार आदि विद्याओं में कुशलता प्राप्त कर ली थी।

दोनों ही भाई ज्ञान-विज्ञान एवं वाद-विवाद में अति प्रवीण थे और जैसे पुण्य के साथ इन्द्रियसुख का प्रेम होता है, वैसे ही दोनों आपस में प्रीतिवन्त थे। दोनों ही सुखपूर्वक वृद्धिङ्गत होते-होते कुमार अवस्था को प्राप्त हुए ही थे कि पापोदय से उनके

पिता सोमशर्मा को कुष्टरोग हो गया। उसके आँख, नाक आदि अङ्ग उपाङ्ग गलने लगे, जिससे वह दु:ख में अति व्याकुल हो गया।

अरे, रे ! प्राणियों को अज्ञान के समान और कोई दूसरा दु:ख नहीं है। ज्ञाननेत्र बन्द होने से उसने पशुबलि आदि विवेकहीन कार्यों में पञ्चेन्द्रिय जीवों को वचनातीत दु:ख दिये थे, उनका फल तत्काल ही वह भोगने लगा। किसी भी इन्द्रिय का विषय-सेवन अच्छा नहीं। जब न्याय-नीति से प्राप्त उचित भोग आदि कार्य भी पापबन्ध के कारण होते हैं, तब भला पापों में मस्त होकर किये गये अनुचित कार्य कहाँ तक अच्छे हो सकते हैं ? इसलिए ज्ञानियों ने इन्द्रिय-विषयों को संसारस्वरूप तथा दु:खदायक विषतुल्य जानकर त्याग ही दिये हैं क्योंकि ये त्यागने योग्य ही हैं। आत्मा का आनन्द निर्विकारी है, मोक्षसुखप्रदायक है; इसलिए हे भव्य ! उसी धर्मामृत का पान करो। यह मनुष्य जन्म बार-बार मिलना मुश्किल है और धर्मरहित होकर मात्र भोगों में लगाने का विचार मात्र अधोगति का कारण है। मनुष्यभव को हारने का कभी विचार भी नहीं करना चाहिए।

मनुष्यभव की कीमत न जानकर, अज्ञान-अन्धकार से ग्रसित वह ब्राह्मण, वेदना से छुटकारा पाने के लिए नित्य ही अपना मरण चाहने लगा, किन्तु आयु पूर्ण हुए बिना मरण कैसे हो सकता है ? मरण न होने से वह कीट-पतंग के समान स्वयं अग्नि की चिता में गिरकर भस्म हो गया। पति-वियोग से पीड़ित उसकी पत्नी सोमशर्मा भी उसी चिता में जलकर भस्म हो गयी। माता-पिता से रहित वे दोनों भाई महादु:खी हो गये। उन दोनों बालकों पर सङ्कटों का



पहाड़ टूट पड़ा, वे शोक से सन्तापित हो करुणा-उत्पादक विलाप करने लगे, तब उन्हें उनके परिवारजनों ने सम्बोधन कर धीरज बँधाया, जिससे वे दोनों कुछ सावधान हुए। उसके बाद उन्होंने अपने माता-पिता के उस कुल में जो-जो संध्यातर्पण आदि क्रिया -कर्म होते, उन्हें किया। पश्चात् अपने गृहकार्य आदि में लग गये तथा इसी प्रकार सांसारिक कार्यों में लगे उनको बहुत दिन व्यतीत हो गये।

★ ★ ★

एक बार महाभाग्य से उसी नगर के वन में एक वीतरागी सन्त श्री सुधर्माचार्य योगीराज पधारे, जो साक्षात् धर्म की मूर्ति ही थे। वे रत्नत्रय के धारी, बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी, जन्मे हुए बालकवत् नग्न दिगम्बररूप के धारी एवं व्रत-समितियों में पूर्ण निर्दोष आचरणवन्त थे। वे दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणों से विभूषित थे, एकान्त मतों के खण्डन करनेवाले एवं स्याद्वाद विद्या के धारी थे। वे उपसर्ग-परीषहों पर जय प्राप्त करनेवाले एवं तपरूपी धन से अलंकृत - ऐसे अनेक गुणयुक्त वे आचार्य आठ मुनियों के संघसहित वन में विराजमान हुए।

अहो ! मुनिराजों का स्वरूप कितना अलौकिक है। वीतरागी सन्तों का स्वरूप ऐसा ही होता है। वहाँ पूज्यवर सुधर्माचार्यजी का जगतजन को हितकर, वैराग्यवर्द्धक और आनन्दप्रदायक धर्मोपदेश हो रहा है। 'चलूँ, मैं भी धर्मामृत का पान करूँ' - इस प्रकार विचार करके भावदेव ब्राह्मण वन की ओर चल दिया तथा शीघ्र ही वन में पहुँचकर आचार्यदेव को नमस्कार कर वहीं बैठ गया।

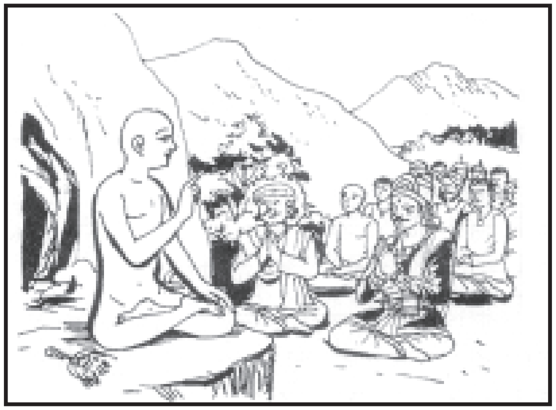

आत्मस्थिरता की दशा से बाहर आने पर उत्पन्न करुणाभाव से धर्मोपदेश करते हुए पूज्य सुधर्माचार्य कहने लगे – हे भव्यजीवो ! इस संसार में सभी प्राणी धर्म से अनभिज्ञ होने से दुःखी हैं। चारों गतियों में प्रायः सभी जीव आत्माराधना से विमुख होकर मोह, राग, द्वेष में कुशलता के कारण दारुण दुःख से दुःखी हैं। संयोगों की अनुकूलता, सुख का कारण नहीं और संयोगों का वियोग, दुःख का कारण नहीं है। आत्मा में शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ नहीं हैं; भोग और उपभोग भी नहीं है। शरीरादिक स्वयं सुख से रहित हैं, उनमें सुख की कल्पना से सुखमयी निजात्मा को भूलकर, इन्द्रियों और उनके विषयों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, अनादि से यह आत्मा सुख से बहुत दूर वर्त रहा है।

हे आत्मन्! तुम स्वयं ज्ञान-आनन्दमयी वस्तु हो, निजात्मा को शाश्वत सुखमयी वस्तु मानों और अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करो। इन अनित्य वस्तुओं में नित्य की कल्पना से, दुर्गति के कारणभूत मिथ्यात्वादि भावों में सुगति के भ्रम से, हे आत्मन्! तुम झपट्टे क्यों मार रहे हो ? हे जीव! तू सुखाभासों में ही भ्रम से सुख मान रहा है परन्तु तेरा सच्चा सुख तो तेरे में ही है और निज के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला रत्नत्रय ही धर्म है; इसलिए अपनी आराधना कर! अपनी



प्रभुता को देख! उसका विश्वास करके उसमें ही लीन हो जा! – इत्यादि अनेक प्रकार से आचार्यदेव से ज्ञानामृत का पान कर भावदेव प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसे अब शीघ्र ही इस परमपवित्र धर्म को धारण करने की भावना जाग उठी।

आचार्यवर का भवताप-नाशक और अनन्त सुखदायक उपदेश श्रवण कर भावदेव ब्राह्मण का हृदय, भव और भव के भावों से काँप उठा। उसके हृदय में संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता छा गयी। उसका मन-मयूर वैराग्यरस में हिलोरें लेने लगा। अब उसे एक क्षण भी इस संसार में नहीं रुचता था। वह अविलम्ब श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के निकट जाकर विनय से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा –

'हे गुरुवर! मुझे परम-आनन्ददायिनी भगवती जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए। हे नाथ! मैं भवसमुद्र में डूब रहा हूँ, रत्नत्रय का दान देकर आप मेरी रक्षा कीजिए। अब मुझे मोक्ष का आनन्दमयी अविनाशी सुख चाहिए, इन सुखाभासों में कभी सच्चे सुख की परछाई भी मुझे नहीं मिली; इसलिए हे प्रभु! मैं सर्व परिग्रह एवं सर्व सावद्य का त्याग करके आकिञ्चन्यत्व प्राप्त करना चाहता हूँ, इसमें ही मुझे सच्चा सुख भासित हो रहा है।'

भावदेव ब्राह्मण के भावों को देखकर एवं शान्ति की पिपासा भरे वचनों को सुनकर श्री सुधर्माचार्य गुरुवर ने उसे जाति, कुल आदि से पात्र जानकर, अतीन्द्रिय आनन्द देनेवाली और संसार -दुःखों से मुक्ति प्रदान करानेवाली जैनेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत

किया। श्री भावदेव मुनिराज, मुक्ति की सङ्गिनी जिनदीक्षा को प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वादन करने लगे। शरीर होने पर भी अशरीरीदशा को साधने लगे। सिद्धप्रभु से बातें करने लगे। आ हा हा! चलते-फिरते सिद्ध के समान उनमें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप अकषायरस/आनन्दरस/वैराग्यरस उछलने लगा। स्वभाव की साधना देख विभाव एवं कर्मबन्धनों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली।

किसी ने सत्य ही कहा है -

**जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर-थर काँपते हैं।**
**भाव की एकाग्रता लख, छोड़ खुद ही भागते हैं॥**

संयम की सम्भाल करते हुए योगीराज श्री भावदेवजी इस पृथ्वीतल पर ईर्यासमितिपूर्वक, गुणों के निधान गुरुवर के साथ ही विहार करने लगे। सुख-दु:ख के प्रसङ्गों में समताभावपूर्वक कभी आत्मध्यान तो कभी स्वाध्याय में रत हो विचरण करने लगे। नि:शल्य होकर नि:सङ्गी आत्मा की सम्यक् प्रकार से आराधना करने लगे, सन्तों की ऐसी अन्तर्बाह्य सहज दशा का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार आया है -

**विषय सुख विरक्ता: शुद्धतत्वानुरक्ता:**
**तपसि निरतचित्ता: शास्त्रसंघातमत्ता:।**
**गुणमणिगणयुक्ता: सर्वसंकल्पमुक्ता:**
**कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते:॥**

अर्थात् जो विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्धतत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त हैं, गुणरूपी



मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्वसङ्कल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे? अवश्य ही होंगे।

गुणनिधि गुरुवर के उपदेश से निज परम-ब्रह्म भगवान आत्मा को देखकर भावदेव मुनिराज को अन्दर में ध्रुवधाम ध्येय की धुन लग गयी। उस धुन की धुन में वे उग्र तप तपने लगे। पश्चात् सविकल्प दशा में आकर वे विचारने लगे कि -

'मैं धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ, भाग्यवान हूँ, अवश्य ही मैं भवसागर से तिरनेवाला हूँ, जो मैंने इस उत्तम जैनधर्म का लाभ प्राप्त किया है।'

★ ★ ★

अनेक वन, उपवन, पर्वतों में संयम की साधना एवं धर्मामृत की वर्षा करते हुए श्री सुधर्माचार्य, संघसहित विहार करते-करते कुछ समय बाद श्री भावदेव मुनिराज के नगर वर्धमानपुर में पुन: पधारे।

'**भवि भागन वच जोगे वसाय, तुम ध्वनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय**' को चरित्रार्थ करते हुए स्व-पर के हित में तत्पर, शान्त, प्रशान्तरस में तल्लीन भावदेव मुनिराज को वहाँ अपने गृहस्थदशा के छोटे भाई भवदेव को सम्बोधित कर कल्याण के मार्ग में लगाने का विचार आया।

भवदेव ब्राह्मण उस नगर का प्रसिद्ध ख्यातिप्राप्त व्यक्ति था परन्तु विषयों की आँधी उस पर अपना रङ्ग जमाये हुए थी लेकिन हठग्राही, एकान्तमतों के शास्त्रों में पारङ्गत, आत्महितकारी यथार्थ बोध से विमुख भवदेव की भव्यता का पाक अर्थात् यथार्थ बोध प्राप्ति की काललब्धि भी अब अति ही निकट आ गयी थी।

'नगर के वन में श्री सुधर्माचार्य संघसहित पधारे हुए हैं' – यह समाचार वायुवेग के समान सारी वर्धमानपुरी में फैल गया; इसलिए चारों ओर से नर-नारियों का समुदाय मुनिवरों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। भवदेव को भी यह शुभ समाचार ज्ञात हुआ कि मुनिवर-वृन्दों के संघ में मेरे बड़े भ्राता श्री भावदेव मुनिराज भी पधारे हुए हैं। अपने भाई एवं गुरुजनों के दर्शनों की अति तीव्र भावना होने पर भी वह स्वयं के विवाह कार्य में व्यस्त होने से वहाँ नहीं जा पाया, परन्तु जैसे वीरप्रभु को सिंह के भव में उसे सम्बोधन करने हेतु आकाशमार्ग से दो चारणऋद्धिधारी मुनिवरों का आगमन हुआ था; उसी तरह भवदेव के साथ भी ऐसा बनाव बना कि श्री भावदेव मुनिराज चर्या हेतु नगर में पधारे, उसी समय भवदेव को उनके दर्शन का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया।

भवदेव तो आश्चर्यचकित हो मुनिवर की प्रशान्तरस झरती वीतरागी मुद्रा को निर्निमेष देखता ही रहा। यद्यपि उसके हृदय में जिनधर्म के प्रति अप्रीति के भाव थे, तथापि वे सभी ऐसे पलायमान हो गये जैसे शीतल वायु (बरसाती हवा) के सम्पर्क से नमक, पानी का रूप धारण कर बह जाया करता है। वह सोचने लगा कि 'यह कोई चमत्कार है या मेरी दृष्टि में कुछ हो गया है, जो ये नग्न पुरुष इतने आनन्दमय सौम्य मुद्रावन्त दिखाई दे रहे हैं, जिनके शरीर पर वस्त्र का एक ताना-बाना भी नहीं, पास में रञ्चमात्र भी धन-वैभव नहीं, उन वनखण्डों के वासियों में यह शान्ति कहाँ से आ रही है? भूख, प्यास, ठण्डी, गर्मी, उपसर्ग, परीषहों की बाधाओं के मध्य यह कमल कैसे खिल रहा है?



पञ्च इन्द्रियों के भोग-उपभोगों के साधनों के अभाव में यह सुख की अनुभूति कैसी? व्रत, उपवास, नीरस आहार आदि से इस वदन में कुन्दन समान चमक कैसे आयी?' इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों से ग्रसित मन ने उसे सत्यता की खोज के लिए बाध्य कर ही दिया। सत्य के उस खोजी को अनेक प्रकार की ऊहापोह के बाद सत्यता का रहस्य हाथ लग ही गया। वह सत्यता थी जिनशासन एवं वीतरागभाव की। जिनशासन की यथार्थता का रहस्य पाकर वह मन ही मन अति प्रसन्न हो मुनिराज के चरणारविन्दों में नतमस्तक हो समीप में ही बैठ गया।

ज्ञानपयोनिधि मुनिराज श्रीभावदेव ने उसके अन्तर की भावनाओं को, उसकी उदासीनता गर्भित प्रसन्नता को भाँप लिया। उसकी पात्रता मुनिराज के ख्याल में आ गयी, इसलिए उन्होंने परमसुखदायक आर्हत धर्म का उपदेश देते हुए कहा –

'हे आत्मन्! तू इस देह में रहकर भी देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा है। तेरा असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है। तेरे एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त गुण भरे हुए हैं। तू ज्ञान का भण्डार है, सुख का खजाना है, आनन्द का सागर है, इसमें डुबकी लगा! तू पञ्चेन्द्रियों के अनन्त बाधासहित एवं अनन्त आपत्तियों के मूलभूत इन विषयों में

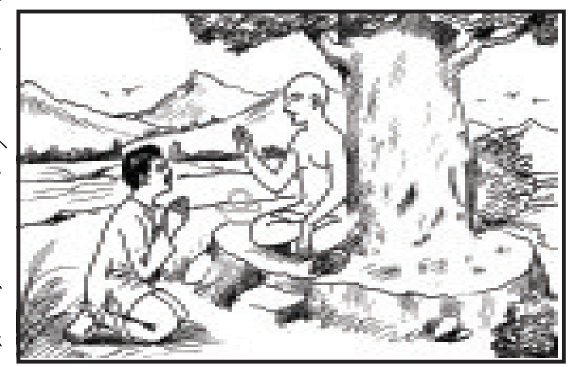

सुख की कल्पना कर रहा है, परन्तु जरा सोच तो सही कि इस चतुर्गतिरूप संसार में अनन्त काल से भ्रमते-भ्रमते तूने इन्हें कब नहीं भोगा है ? इनके कौन से भोग शेष रहे हैं, जो तूने नहीं भोगे हों ? परन्तु आजतक क्या तूने कभी एक क्षण के लिये भी इनसे सुख-शान्ति पाई है ?

हे भव्य ! तुझे आजतक पराधीनता में कहीं भी, किसी सुख की गन्ध नहीं मिली है। यदि इन्द्रिय-विषयों में सुख होता तो श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ और श्री अरनाथ भगवान तो चक्रवर्ती, कामदेव और तीर्थङ्कर - इन तीन-तीन पदवियों के धारक थे, उन्हें कौन-सी कमी थी ? फिर भी उन्होंने इन्द्रिय-विषयों को एवं राज्यवैभव को गले हुए तृण के समान छोड़कर आत्मा के सच्चे अतीन्द्रिय सुख को अपनाया। इस शरीररूपी कारागृह में फँसे हुए प्राणियों ने इसके नव मलद्वारों से मल का ही सृजन कर, मल का ही सञ्चय किया है। यह देह, मल से ही निर्मित है, उसके भोगों में सुख कहाँ से आयेगा ?

भाई ! यह शरीर तो अपवित्रता की मूर्ति है और भगवान आत्मा तो सदा पवित्रता की मूर्ति है। यह देह तो रोगों का भण्डार है और भगवान आत्मा तो सदा ज्ञान-आनन्द का निकेतन है। यह देह तो कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जानेवाली है और भगवान आत्मा तो शाश्वत चैतन्य-बिम्ब है; इसलिए हे भद्र ! तू चेत ! चेत !! और सावधान हो !!!

भावदेव मुनिराज बोले जा रहे थे और भवदेव मेढ़े की भाँति टकटकी लगाकर उस धर्मामृत का रसपान किये जा रहा था।



उसकी प्रसन्नमुद्रा देखकर मुनिराजश्री ने कहा -

हे जीव ! तूने अनेकों बार स्वर्ग-नरक के वासों को प्राप्त किया और नरकों में दस हजार वर्ष से लेकर क्रमशः तैंतीस सागरोपम की स्थिति को प्राप्त करके अनेकों बार वहाँ जन्म-मरण किये। वहाँ भूमिकृत एवं अन्य नारकियों द्वारा दिये गये अगणित दुःख भोगे। इसी तरह एकेन्द्रिय में एक स्वांस में अठारह बार जन्म-मरण के अपरम्पार अकथित दुःख भोगे। भाई ! नरक के एक क्षण के दुःखों का वर्णन करोड़ों भवों और करोड़ों जीवों से भी सम्भव नहीं है। हे चिदात्मन् ! अब तो इस भव-भ्रमण से विराम ले !

यह काया दुःख की ढेरी है। यह इन्द्रियों के कल्पनाजन्य सुख, नरक-निगोद के अनन्त दुःखों के कारण हैं। हे बुध ! तू ही विचार कि थोड़े दुःख के बदले में मिलनेवाला अनन्त सुख श्रेष्ठ है या थोड़े से कल्पित सुखों के बदले में मिलनेवाला अनन्त दुःख श्रेष्ठ है ?

हे वत्स ! ऐसा सुख सदा ही त्यागने योग्य है कि जिसके पीछे अनन्त दुःख भरा हो। शाश्वत सुखमयी ज्ञायक ही तुम्हारा पद है। हे भाई ! ये काम-भोग तो ऐसे हैं, जिनकी श्रेष्ठजन-साधुजन स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते। भोगीजन भी उन्हें भोगने पर स्वतः ही ग्लानि का अनुभव करते हैं। भोगने की बुद्धि भी स्वयं मोहान्धरूप है। जिसे शुद्ध ज्ञानानन्दमय आत्मा नहीं सुहाता, वह मग्नतापूर्वक भोगों में प्रवर्तता है, परन्तु हे भाई ! वह तेरा पद नहीं है, वह तो अपद है, अपद है; इसलिए इस चैतन्यामृत का पान करने यहाँ आ ! यही तेरा पद है !

– इतना कहकर भावदेव मुनिराज तो वन में चले गये, परन्तु यहाँ मुनिराज के मुखारविन्द से धर्मामृत का पान कर भवदेव को संसार, देह, भोगों के प्रति कुछ विरक्ति के भाव जागृत हो उठे। उसने सकल संयम धारण करने की भावना होने पर भी उसी दिन विवाह होने से अपने को महाव्रतों को धारण करने में असमर्थ जानकर अणुव्रत अङ्गीकार कर लिये। परम सुखदाता जिनमार्ग को पाकर उसके हृदय में मुनिराज को आहारदान देने की भावना जाग उठी। उसने आहारदान देने की विधि ज्ञात की और अतिथिसंविभाग की भावना से आहारदान के समय अपने द्वार पर द्वारापेक्षण कर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि संयम हेतु आहारचर्या के लिए मुनिराज नगर में आते दिखे। मुनिराज को आते देख वह नवधाभक्तिपूर्वक बोला –

हे स्वामिन्! नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु! अत्र, अत्र, अत्र!! तिष्ठो, तिष्ठो, तिष्ठो!!! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि! आहार-जल शुद्ध है।

– इस प्रकार मुनिराज को पड़गाहन कर गृह-प्रवेश कराया, उच्च आसन दिया एवं पाद-प्रक्षालन तथा पूजन करके आहारदान दिया। पुण्योदय से उसे आहारदान का लाभ प्राप्त हो गया। भवदेव श्रावक के हर्ष का अब कोई पार न रहा। सिद्ध-सदृश यतीश्वर को पाकर वह अपने को कृतार्थ समझने लगा और आनन्द-विभोर हो स्तुति करने लगा –



**धन्य मुनिराज हमारे हैं, अहो! मुनिराज हमारे हैं॥ टेक॥**
**धन्य मुनिराज का चिंतन, धन्य मुनिराज का घोलन।**
**धन्य मुनिराज की समता, धन्य मुनिराज की स्थिरता॥ १॥**
**धन्य मुनिराज का मंथन, धन्य मुनिराज का जीवन।**
**धन्य मुनिराज की विभुता, धन्य मुनिराज की प्रभुता॥ २॥**

आहार लेकर श्री भावदेव मुनिराज ने वन की ओर गमन किया, जहाँ उनके गुरुवर श्री सुधर्माचार्य विराजमान थे। ईर्यासमितिपूर्वक योगीराज को वन की ओर जाते समय उनकी विनय करने की भावना से भरे हृदयवाले अनेक नगरवासियों के साथ भवदेव श्रावक भी गुरुवर को वन तक पहुँचाने के भाव से उनके पीछे-पीछे चला गया। कुछ व्यक्ति तो थोड़ी दूर जाकर मुनिराज को नमस्कार कर वापिस अपने-अपने घर को लौट आये, किन्तु भवदेव यह सोचकर साथ ही चलता रहा कि मुनिराज आज्ञा देंगे, तभी मैं जाऊँगा। मुनिराज तो कुछ भी बोले बिना आनन्द की धुन में झूलते-झूलते आगे बढ़ते ही जा रहे थे। भवदेव सोचने लगे – 'अब हम नगर से बहुत दूर आ गये हैं, इसलिए भाई को बचपन के खेलने-कूदने के स्थलों की याद दिलाऊँ, शायद इससे वे मुझे वापिस लौटने की आज्ञा दे दें।'

भवदेव बोला – 'हे प्रभु! हम दोनों बचपन में यहाँ क्रीड़ा करने आया करते थे। यह क्रीड़ा-स्थल अपने नगर से कितनी दूर है? यह उद्यान भी कितनी दूर है, जिसमें हम गेंद खेला करते थे? यहाँ

अपने नगर का कमलों से सुशोभित सरोवर है, जहाँ हम स्नान किया करते थे, यहाँ हम दोनों मोर की ध्वनि सुनने बैठा करते थे' - इत्यादि अनेक प्रसङ्गों की याद दिलाते हुए वह चल तो रहा था मुनिराज के साथ, मगर अपने हाथ में बँधी कंकण की गाँठ को देख-देखकर उसका मन अन्दर ही अन्दर आकुलित हो रहा था। उसके पैर मूर्च्छित मनुष्य की तरह लड़खड़ाते हुए पड़ रहे थे, उसके नेत्रों में पत्नी की छवि दिख रही थी और नव -वधू नागवसु की याद से उसका मुखकमल भी मुरझाया जैसा हो गया था।

दूसरी ओर उसके मन में अनन्त सुखमय वीतरागी सन्तों का मार्ग भी भा तो रहा ही था, उसका मन बारम्बार इन्द्रियसुख से विलक्षण अतीन्द्रिय सुख का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिए प्रेरित हो रहा था। एक ओर सांसारिक दु:खों की भयङ्कर गहरी खाई तो दूसरी ओर सादि-अनन्त काल के लिए अनन्त आत्मिक आनन्द दिख रहा था।

'अरे! किसे अपनाऊँ, किसे न अपनाऊँ? मैं तो सुख का मार्ग ही अपनाऊँगा।' - इस प्रकार विचारमग्न भवदेव दुविधा में झूल रहा था - 'अरे रे! वह नागवसु क्या सोचेगी? उस पर क्या बीत रही होगी? क्या एक निरपराधी के साथ ऐसा करना अनुचित नहीं होगा? क्या मैं पामर नहीं माना जाऊँगा? क्या मैं लोक में हँसी का पात्र नहीं होऊँगा?... नहीं, नहीं लोकसंज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जा सकता। एक बार पत्नी और परिवारजन भले ही दु:खी हो लें, समाज कुछ भी कहे, किन्तु समझदारों का विवेक तो हमेशा हित



गवेषणा में तत्पर रहता है। मैं तो जैनेश्वरी दीक्षा ही अङ्गीकार करूँगा।'

इस प्रकार के द्वन्दों में झूलता हुआ भवदेव, मुनिराज के साथ पूज्य गुरुवर श्री सुधर्माचार्य के निकट पहुँच गया। गुरुराज को नमस्कार कर वहीं दोनों जन विनयपूर्वक बैठ गये। संघस्थ मुनिवर वृन्दों ने श्री भावदेव मुनिराज से कहा - 'हे महाभाग्य! तुम धन्य हो, जो इस निकट भव्यात्मा को यहाँ इस समय लेकर आये हो। आप दोनों मोक्षगामी आत्मा हो। आप दोनों के कन्धों पर ही धर्म का रथ चलेगा।'

वन में विराजमान मोक्ष मण्डली एवं वहाँ के शान्त वातावरण को देख भवदेव मन ही मन विचारने लगा - 'मैं परमपवित्र इस संयम को धारण करूँ या पुन: घर जाकर नव-वधू को सम्बोध कर वापिस आकर जिनदीक्षा लूँ।' संशय के हिंडोले में झूलता हुआ भवदेव का मन एक क्षण भी स्थिर न रह सका।

वह विचारता है 'अभी मेरे मन में संशय है, अत: मैं दिगम्बर वेष कैसे धर सकूँगा? और मेरा मन भी कामरूपी सर्प से डसा हुआ है। मेरे जैसा दीन पुरुष इस महान पद को कैसे धारण कर सकेगा? लेकिन यदि मैं गुरु-वाक्य को शिरोधार्य न करूँ तो मेरे बड़े भ्राता को बहुत ही ठेस पहुँचेगी।' इस तरह उसने अनेक प्रकार के विकल्पजालों में फँसे हुए अपने मन को कुछ स्थिर करके सोचा तो अन्ततोगत्वा उसे परमसुखदायनी, आनन्दप्रदायनी जैनेश्वरी दीक्षा ही श्रेष्ठ भासित हुई। फिर भी उसके मन में यह भाव भी आया कि कुछ समय यहाँ रहकर बाद में अवसर पाकर मैं अपने घर को जाऊँगा।

पुनः उसका मन पलटा – 'अरे! मुझे ऐसा करना योग्य नहीं है। मैं अभी जैनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार करूँगा।'

– ऐसा दृढ़निर्णय करके भवदेव, गुरुवर्य श्री सुधर्माचार्य के चरणों में हाथ जोड़कर बारम्बार नमस्कार करता हुआ प्रार्थना करने लगा – 'हे स्वामिन्! मैंने इस संसार में अनन्त दुःखों से दुःखी होकर भ्रमते हुए आज ज्ञाननेत्र प्रदान करनेवाले तथा संसार से उद्धार करनेवाले आपके चरणों की शरण पायी है; इसलिए हे नाथ! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत कीजिए। मैं अब इन सांसारिक दुःखों से छूटना चाहता हूँ।'

श्री सुधर्माचार्य ने पारमेश्वरी जिनदीक्षा के अभिलाषी, वर्तमान में उदासीनतायुक्त भवदेव को आर्हत् धर्म की यथोक्त विधिपूर्वक जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत किया। भवदेव ने भी पञ्च परमेष्ठियों एवं सम्पूर्ण संघ तथा श्रोताजनों की साक्षीपूर्वक अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर, केशलोंच करके निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली और अपने दीक्षागुरु पूज्यश्री सुधर्माचार्य के साथ अनेक वन, उपवन, पर्वतों आदि में विहार करते हुए ज्ञान-ध्यान, अध्ययन आदि के साथ संयम की आराधना करने लगे।

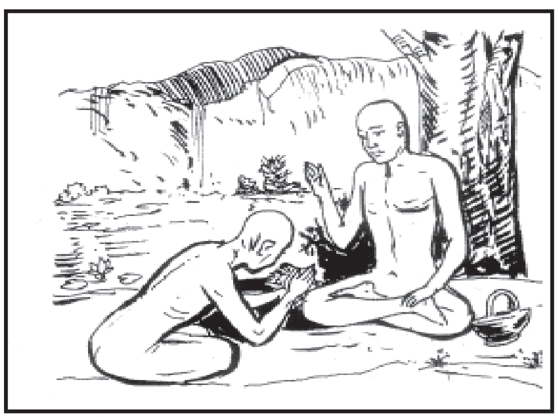



★ ★ ★

जब भावदेव मुनिराज को विनयपूर्वक वन-जङ्गल तक पहुँचाने गये भवदेव बहुत समय तक घर नहीं आये, तब नागवसु को विचार आया कि कहीं मेरे पतिदेव ने मुनिदीक्षा तो धारण नहीं कर ली है? इस बात का पता लगाने पर उसे ज्ञात हुआ कि सचमुच उन्होंने तो मुनिदीक्षा धारण कर ली है और आचार्यदेव तो संघसहित विहार भी कर गये हैं।

'जब पतिदेव ही दीक्षित हो गये हैं, तब मैं भी क्यों न उनके ही पथ का अनुसरण करूँ?' – यह सोचकर नागवसु ने भी अपना मन आर्यिका के व्रत लेने के लिए तैयार कर लिया। अन्दर में कुछ उदासी तो आ ही गयी थी, फिर भी वह घर में रहती हुई दिन-रात द्वन्द्व में पड़ी-पड़ी यही विचार करती कि – 'जब पतिदेव ने ही भोग के समय योग धारण कर लिया, संसार को ठुकराकर सच्चे सुख का मार्ग ग्रहण कर लिया तो मैं भी क्यों न सच्चे सुख का ही मार्ग ग्रहण करूँ?'

वह पुनः अपने भावों को टटोलती है कि – 'वीतराग मार्ग में तो बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। मैं उपसर्ग-परीषहों को कैसे सहूँगी? वनखण्डों की सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि की बाधाओं को मेरा यह कोमल शरीर कैसे सहेगा? मैंने यह मार्ग कभी देखा ही नहीं, क्या पता मैं इसका निर्दोष पालन कर भी पाऊँगी या नहीं?' इत्यादि।

नागवसु के भाव पुनः पलटने लगे – 'अरे! गजसुकुमार, सुकुमाल एवं सुकौशलजी आदि तो मुझसे भी अधिक सुकोमल तन के धारी थे, उनके यहाँ तो बाह्य साधन-सामग्री भी बहुत थी,

फिर उन्होंने यह कुछ भी नहीं सोचा; बस, जैसे वे अपने हित के मार्ग पर निकल पड़े थे, वैसे ही मुझे भी कुछ नहीं सोचना है। धर्म के आराधकों को तो आत्मशान्ति की धुन में कुछ खबर ही नहीं पड़ती कि बाहर में क्या हो रहा है।'

मोक्षसुख की भावना से ओत-प्रोत नागवसु ने भी पूज्य गणिनीजी के पास जाकर नमस्कार करके आर्यिकाव्रत प्रदान करने की प्रार्थना की – 'हे माता! मेरा चित्त अब संसार के दु:खों से थक चुका है, मैंने धर्म से पराङ्गमुख होकर नरक-निगोद के अनन्त दु:ख सहे हैं, अब मैं शान्ति चाहती हूँ; इसलिए हे माता! मुझे आत्मशान्ति को देनेवाली दीक्षा प्रदान कर अपनी शरण में लीजिए।'

तभी पूज्य गणिनीजी ने नागवसु को पात्र जानकर आर्यिका के व्रत प्रदान किये। सम्यग्दर्शन एवं देशव्रतों से सुशोभित नागवसु आर्यिकाजी भी अध्ययन एवं ध्यान में रत होकर उग्र तप करने लगीं। उनने भी अपनी भूमिका के योग्य सर्वोत्कृष्ट दशा को अङ्गीकार कर लिया। उग्र तपों का आदर करने से आर्यिकाजी की आत्मशान्ति तो वृद्धिङ्गत होती जा रही थी परन्तु तन हाड़-पिंजर हो गया था। एकबार ज्ञान-वैराग्य रस में पगी आर्यिका नागवसुजी भी पूज्य गणिनीजी एवं संघ के साथ अनेक नगरों तथा वन-जंगलों में विहार करती हुई बहुत समय के बाद वर्धमानपुरी के निकटवर्ती उद्यान में आकर विराजमान हुई।

इधर श्री सुधर्माचार्य भी संघसहित पुन: उसी वर्धमानपुरी नगर के वनखण्डों में पधारे। सर्व ही मुनिराज नगर के बाहर वन के एकान्त स्थान में शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन हो कायोत्सर्गपूर्वक



तप करने में संलग्न थे परन्तु भवदेव मुनिराज को अपनी नवविवाहिता पत्नी नागवसु की याद तीव्रता से सताने लगी। वे बार-बार अपने को समझाते, परन्तु राग की तीव्रता ने जोर मारा और पत्नी नागवसु की जानकारी करने हेतु वर्धमानपुरी की ओर चल दिए।

यद्यपि वे रास्ते भर मन ही मन अपने को/अपने उपयोग को समझाते रहे कि – 'अरे! इस प्रकार के विचार करना मुझे योग्य नहीं है। अब मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली है, इसलिए मुझे सम्यक् रत्नत्रय की ही भावना करना योग्य है। संसार की कारणभूत स्त्री के स्मरण से अब मुझे क्या प्रयोजन है?' – ऐसा विचार करते हुए भी वे वर्धमानपुरी की ओर ही चलते रहे।

अहो! इस समय भवदेव मुनि तो सन्ध्या के उस सूर्य की लालिता के समान हैं, जो रात्रि होने के पहले पश्चिम दिशा को जा रहा है। नगर में आकर उन्होंने एक सुन्दर एवं ऊँचे जिनमन्दिर को देखा। वह मन्दिर ऊँची-ऊँची ध्वजाओं एवं तोरणों से सुशोभित था। मणिरत्नों की मालाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। वहाँ अनेक नगरवासी दर्शन कर प्रदक्षिणा देकर भावभक्ति से प्रभु की पूजन करते थे, कोई मधुर स्वर में गान कर रहे थे, कोई शान्तभाव से प्रभु का गुण-स्तवन कर रहे थे, कोई आत्म-शान्ति हेतु चिन्तवन-मनन में मग्न थे तथा कोई ध्यानस्थ बैठे हुए थे। भवदेव मुनि भी जिनेन्द्रदेव का दर्शन कर अपने योग्य स्थान में बैठ गये।

उधर आर्यिका नागवसु भी आहारचर्या को निकलने के पहले जब जिनमन्दिर में जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने गयी तो ज्ञात हुआ कि कोई मुनिराज यहाँ पधारे हुए हैं। मुनिराज को चर्या हेतु निकल जाने

के बाद वह स्वयं भी आहार चर्या को निकलीं। आहारचर्या करने के बाद मुनिराज पुनः जिनमन्दिर में पधारे।

मुनिराज के दर्शन की भावना लिए आर्यिकाजी अपनी गणिनी माताजी के साथ संघसहित पुनः मन्दिरजी में पधारीं परन्तु उनके समीप पहुँचने से पूर्व ही उन्होंने मुनिराज को एक गृहस्थ से नागवसु के बारे में बात करते हुए सुना। फिर भी आर्यिका-संघ ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए रत्नत्रय की कुशलता पूछी। मुनिराज ने भी आर्यिका-व्रतों की कुशलता पूछी।

गणिनी माताजी ने उनके भययुक्त मन तथा काँपते हुए शरीर को देखा तो वे विचारने लगीं - 'अरे रे! ये मुनिवर, मुनिपद धारण करके भी कैसी मति-विमोहित हो मोहान्ध हो रहे हैं? इसलिए धर्म से विचलित होनेवालों को धर्मामृतपान द्वारा पुनः स्थितिकरण कराना हमारा कर्तव्य है।'

ऐसा विचारकर विशेष ज्ञान सम्पन्न नागवसु आर्यिकाजी ने गणिनी माताजी की आज्ञानुसार भवदेव मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा - 'हे मुनिवर!

**कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्**
**भवभ्रमणकारणं स्मरशरन्निदग्धं मुहुः।**
**स्वभावनियतं सुखे विधिवशादनासादितं**
**भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः॥**

हे यति! जो चित्त भव-भ्रमण का कारण है और बार-बार कामबाण की अग्नि से दग्ध है - ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को आप शीघ्र छोड़ दो और जो विधिवशात् अप्राप्त है - ऐसे



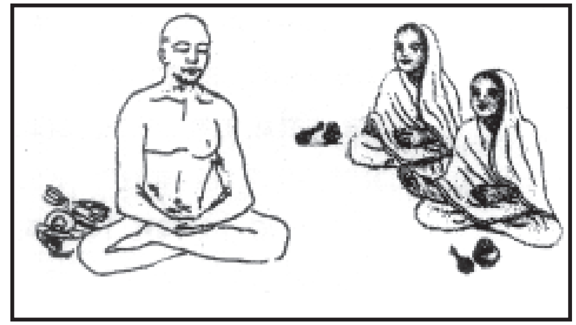

निर्मल स्वभाव-नियत सुख को, आप प्रबल संसार की भीति से डरकर भजो।

हे मुनिवर! इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है, वह योग्य तपश्चर्या इन्द्रों को भी सतत् वन्दनीय है। उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति, अरे रे! कलि से घायल हुआ है।

हे बुद्धिमान! आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान, ध्येय आदि के विकल्पवाला शुभतप भी कल्पनामात्र रम्य है - ऐसा जानकर श्रीमान् सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए - ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

**शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि।**
**स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम्॥**

हे श्रमण! तीन शल्यों का परित्याग करके, निःशल्य परमात्मा में स्थित रहकर, विद्वान को सदा शुद्ध आत्मा को स्फुटरूप (प्रगटरूप) से भाना चाहिए।

हे महाराज! आप पूज्य हो, धीर हो, वीर हो, निर्ग्रन्थ हो, वीतरागी हो, महान बुद्धिमान हो, धन्य हो, जो तीन लोक में महादुर्लभ ऐसा चारित्रधर्म आपने अङ्गीकार किया है। ये महाव्रत स्वयं महान

हैं, इन्हें महापुरुष ही धारण करते हैं और इनका फल भी महान है। इन्द्रों से भी पूज्य और मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परमपवित्र साधुपद में आप तिष्ठ रहे हो। यह साम्यधर्म, मोहरहित आत्मा का अत्यन्त निर्विकारी चैतन्यपरिणाम है, यही चारित्र एवं धर्म है और यही सर्व अनुपम गुणों एवं लोकोत्तर सुखों का निधान है।

हे महाप्रज्ञ! आप वास्तव में अति महान हो, क्योंकि आपने देवों को भी दुर्लभ ऐसे विपुल भोगों को पाकर भी तत्काल उनसे विरक्त हो योग धारण कर लिया।

हे मुनिराज! ये भोग हलाहल विष समान तत्क्षण प्राणों को हरनेवाले हैं और भविष्य में भी अनन्त दुःखों के दाता हैं। अनन्त भवों में ये महा-हिंसाकारक भोग क्या अनन्तों बार नहीं भोगे, जो आज उन्हीं की पुनः इच्छा करते हो? जरा विचारो! आप तो बारह प्रकार के अव्रत के पूर्ण त्यागी हो, अहिंसामहाव्रत और ब्रह्मचर्य -महाव्रत के धारी हो। ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो अमृत को छोड़कर विष की इच्छा करेगा? स्वर्ण को त्यागकर पत्थर को ग्रहण करेगा? ऐसा कौन अधम होगा, जो स्वर्ग व मोक्ष को छोड़कर नरक जाएगा? तथा ऐसी जिनेश्वरी दीक्षा को छोड़कर इन्द्रियों के भोगों की कामना करेगा?'

- इत्यादि अनेक तरह के बोधप्रद वचनों से आर्यिकाजी ने उन्हें सम्बोधित किया। तत्पश्चात् नागवसु के सम्बन्ध में गणिनी आर्यिका माताजी ने भवदेव मुनिराज की शल्य का निवारण करते हुए कहा कि 'वे तो आपके दीक्षा के समाचार सुनते ही आर्यिका की दीक्षा लेकर चली गयी थीं और आपको स्थितिकरण में कारणभूत भी वे ही हैं।



आर्यिका के व्रतों में वे मेरुसमान हैं। हे मुने! यह बड़े खेद की बात है कि आपने बारम्बार अपनी पत्नि का स्मरण करके शल्यसहित इतना काल वृथा ही गँवाया। धिक्कार है! ऐसी विषयाभिलाषा को! धिक्कार है!! धिक्कार है!!!

हे मुने! वास्तव में इस स्त्री-शरीररूपी कुटी में कोई भी पदार्थ सुन्दर नहीं है। इसलिए अपने मन को शीघ्र ही संसार, देह, भोगों से पूर्ण विरक्त करके, निःशल्य होकर स्वरूप में विश्रान्तिरूप निर्विकार चैतन्य का प्रतपनरूपी तप का साधन करो, जिससे स्वर्ग और मोक्षसुख प्राप्त होते हैं। अनेक दुःखदायी सुखाभासों को देनेवाले इन विषय-भोगों में इस जन्म को व्यर्थ क्यों खोना? क्या कभी अग्नि ईंधन से तृप्त हुई है? इस जीव ने अनन्त भवों में अनन्त बार स्त्री आदि के अपार भोगों को भोगा है और कई बार जूठन के समान छोड़ा है। हे वीर! भोगों में अनुराग करने से आपको क्या मिलेगा? केवल दुःख ही दुःख मिलेगा।'

धर्मरत्न श्री आर्यिकाजी के धर्मरसपूर्ण वचनों को सुनकर भवदेव मुनि महाराज का मन स्त्री आदि के भोगों से पूर्णतः विरक्त हो गया। वे मन ही मन अति लज्जित हो अपने को धिक्कारने लगे। मुनिराज, प्रतिबुद्ध होकर आर्यिकाजी की बारम्बार प्रशंसा करने लगे - 'मैं भवदेव आपके वचनों के श्रवण से अग्निपाक संयोग सुवर्ण के समान निर्मल हो गया हूँ। हे आर्ये! आप धन्य हो। मुझ जैसे अधम के उद्धार में आप नौका समान हो। आपने मुझे मोह से भरे अगाध जलराशि में से एवं सैकड़ों आवर्तों व भँवरों में डूबते हुए संसार-सागर से बचा लिया है। आपका अनन्त उपकार है।' -

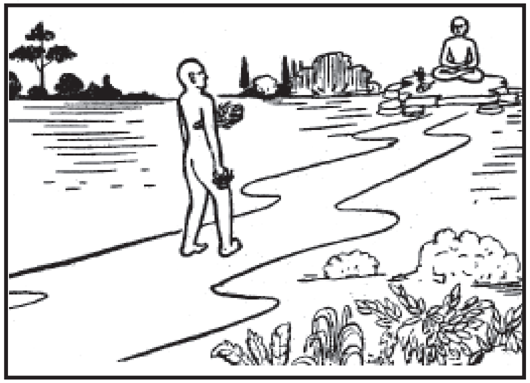

इतना कहकर मुनि भवदेवजी उठकर वन की ओर विहार कर गये।

भवदेव मुनिराज जङ्गल की ओर चलते-चलते विचारमग्न हो मन ही मन गुन-गुनाते जा रहे हैं कि –

**अब हम सहज भये न रुलेंगे।**
**बहु विधि रास रचाये अबलौं, अब नहिं वेष धरेंगे॥**
**मोह महादुःख कारण जानो, इनको न लेश रखेंगे।**
**भोगादिक विषयन विष जाने, इनको वमन करेंगे॥**
**जग जो कहो सो कह लो भैया, चिंता नाहिं करेंगे।**
**मुनिपद धार रहे वन माहीं, काहू से नाहिं डरेंगे॥**
**अब हम आप सौं आपमें बसके, जग सौं मौन रहेंगे।**
**हम गुपचुप अब निज में निज लख, और कछु न चहेंगे॥**
**निज आतम में मगन सु होकर, अष्ट करम को दहेंगे।**
**निज प्रभुता ही लखते-लखते, शाश्वत प्रभुता लहेंगे॥**
**अपनी सहजता निरखि निरखि निज, दृग काहे न उमगेंगे।**
**ये जग छूटे, करम भी टूटे, सिद्ध-शिला पे रहेंगे॥**

जैसे, चिरकाल से समुद्र के आवर्तों में फँसा हुआ जहाज आवर्त से छूटकर अपने स्थान को पहुँचता है, उसी प्रकार शल्यरहित होकर मुनिराज ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए अपने गुरुवर के



निकट पहुँचे। गुरुवर को नमस्कार करके भवदेव मुनि ने गुरुवर के समक्ष अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त जो कुछ भी बीता था, सब कुछ निश्छलभाव से कह दिया तथा अन्त में कहा – 'हे गुरुवर! मुझे शुद्ध कर अपने चरणों की शरण दीजिए।'

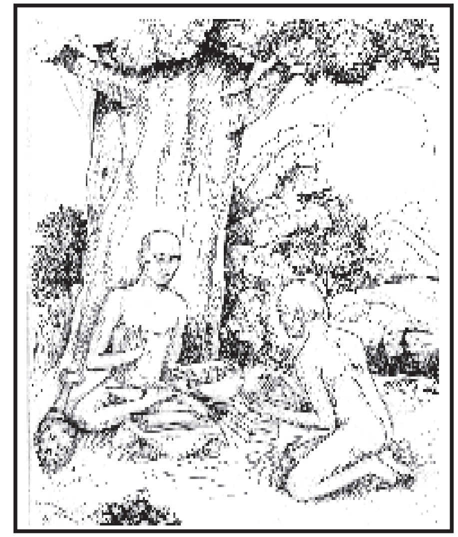

पूज्य गुरुवर ने भवदेव द्वारा निश्छलभाव से कहे गये दोषों को जानकर, उसके दण्डस्वरूप भवदेव की दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देकर संयम धारण कराया। दोषों का प्रायश्चित भवदेव मुनिराज ने सहर्ष स्वीकार किया। वे संघस्थ सभी साधुओं को नमस्कार करके, निःशल्य हो, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार करके कर्मों को जीतनेवाले भावलिङ्गी सन्त हो विचरने लगे और विचारने लगे –

**भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतु विनाशनम्।**
**भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥**

निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव और भोग से पराङ् मुख हुए हे यति! तुम भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस ध्रुवपद को भजो, अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है?

**समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।**
**सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये॥**

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समरस अर्थात् समताभाव द्वारा सदा पूजता हूँ।

अब, भवदेव मुनिराज निरन्तर अपने समयसारस्वरूप को अर्थात् निजात्मा को भजने लगे। ज्ञान-ध्यान एवं उग्र-उग्र तपों में संलग्न हो अपने बड़े गुरुजनों के समान तप करने लगे।

★ ★ ★

निजस्वरूपस्थ श्री भवदेव मुनिराज को अब एकमात्र मोक्ष की ही भावना शेष रह गयी है और सभी प्रकार की इच्छाएँ विलय को प्राप्त हो गयी हैं। वे अब क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, शत्रु, मित्र, स्वर्ण, पाषाण, हानि, लाभ, निन्दा, प्रशंसा आदि सभी में समभाव के धारी हो गये हैं।

निजस्वरूप की आराधना करते-करते अब जीवन के कुछ ही क्षण शेष रहे थे कि महान कुशलबुद्धि के धारक भावदेव और भवदेव दोनों तपोधनों ने उस शेष समय में आत्मतल्लीनतारूप परम समाधिमरण को स्वीकार कर, प्रतिमायोग धारण कर, विपुलाचल पर्वत पार पण्डितमरण द्वारा इस नश्वर काया का त्याग कर सानत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में सात सागर की आयुवाली देवपर्याय को प्राप्त किया।

अहो! ऐसी आत्माराधनापूर्वक पण्डितमरण करनेवाले युगल तपोधनों की जय हो! जय हो!! ● *- ब्रह्मचारिणी विमलाबेन*

9

# वात्सल्यमूर्ति मुनिश्री विष्णुकुमार

लाखों वर्ष पहले भगवान श्री मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के समय की यह कहानी है। उज्जैनी नगरी में उस समय राजा श्रीवर्मा राज्य करते थे, उनके बलि इत्यादि चार मन्त्री थे, वे नास्तिक थे, उन्हें सच्चे धर्म की श्रद्धा नहीं थी।

एक बार उज्जैनी नगरी में सात सौ मुनियों के संघसहित आचार्यश्री अकम्पन का आगमन हुआ। सभी नगरजन हर्ष से मुनिवरों के दर्शन करने लगे। राजा की भी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई और उन्होंने मन्त्रियों को भी साथ चलने को कहा। यद्यपि इन बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों की तो जैन मुनियों पर श्रद्धा नहीं थी, फिर भी राजा की आज्ञा से उन्हें भी साथ में चलना पड़ा।

राजा ने मुनिवरों को वन्दन किया परन्तु ज्ञान-ध्यान में तल्लीन मुनिवर तो मौन ही थे। उन मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देखकर राजा बहुत प्रभावित हुआ परन्तु मन्त्री दुष्टभाव से कहने लगे - 'महाराज! इन जैन मुनियों को कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए ये मौन रहने का ढोंग कर रहे हैं, क्योंकि '**मौनं मूर्खस्य लक्षणम्**'।'

इस प्रकार निन्दा करते हुए वे वापस जा रहे थे और उसी

समय श्री श्रुतसागर नाम के मुनि सामने से आ रहे थे, उन्होंने मन्त्रियों की बात सुन ली, उन्हें मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुई; इसलिए उन्होंने उन मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रय धारक श्रुतसागर मुनिराज ने अनेकान्त सिद्धान्त के न्याय से मन्त्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें चुप कर दिया। दूसरों के मौन की खिल्ली उड़ानेवाले स्वयं मौन की साधना करने लगे।

इस प्रकार राजा की उपस्थिति में हार जाने से मन्त्रियों को अपना अपमान लगा। अपमान से क्रोधित होकर वे पापी मन्त्री रात्रि में मुनिराज को मारने के लिए गये; परन्तु उन्होंने ध्यान में बैठे मुनिराज के ऊपर तलवार उठाकर जैसे ही उन्हें मारने का प्रयत्न किया, वेसे ही अकस्मात् उनका

हाथ खड़ा ही रह गया। तलवार उठाये हुए हाथ वैसे ही कीलित हो गये और उनके पैर भी जमीन के साथ चिपक गये।

सुबह होने पर लोगों ने यह दृश्य देखा और राजा को चारों मन्त्रियों की दुष्टता की खबर मिली, तब राजा ने उनको गधे पर बैठाकर नगर के बाहर निकाल दिया। युद्ध कला में कुशल ऐसे वे बलि आदि मन्त्री भटकते-भटकते हस्तिनापुर नगरी पहुँचे और वहाँ राज दरबार में मन्त्री बनकर रहने लगे।



हस्तिनापुर नगरी, भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ - इन तीन तीर्थङ्करों की जन्मभूमि है। यह कहानी जिस समय घटित हुई, उस समय हस्तिनापुर में राजा पद्मराय राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये थे, उनका नाम था विष्णुकुमार। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते। उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्रगट हुईं थी परन्तु उनका उन पर ध्यान नहीं था; उनका ध्यान तो आत्मा की केवलज्ञान लब्धि के साधने पर था।

सिंहरथ नाम का एक राजा था, जो इस हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और उन्हें बारम्बार परेशान करता रहता था। पद्मराय उसे अभी तक जीत नहीं सका था। अन्त में बलि मन्त्री की युक्ति से पद्मराय ने उसे जीत लिया; इसलिए प्रसन्न होकर राजा ने बलि को मुँह माँगा वरदान माँगने को कहा, तब बलि मन्त्री ने कहा - 'हे राजन्! जब आवश्यकता पड़ेगी, तब यह वरदान माँग लूँगा।'

इधर अकम्पन आदि सात सौ मुनि भी देश-देशान्तर में विहार करते हुए और भव्यजीवों को वीतराग धर्म समझाते हुए हस्तिनापुर नगरी पहुँचे। वहाँ अकम्पन इत्यादि मुनिवरों को देखकर बलि मन्त्री भय से काँप उठा। उसको डर लगा कि इन मुनियों के कारण हमारा उज्जैन का पाप अगर प्रगट हो गया तो यहाँ का राजा भी हमारा अपमान करके हमें यहाँ से निकाल देगा। क्रोधित होकर अपने वैर का बदला लेने के लिए वे चारों मन्त्री विचार करने लगे। अन्त में उन पापियों ने सभी मुनियों को जान से मारने की एक दुष्ट योजना बनाई। राजा से जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँग लिया।

उन्होंने कहा 'महाराज, हमें एक बहुत बड़ा यज्ञ करना है, इसलिए सात दिन के लिए आप राज्य हमें सौंप दें।'

अपने वचन का पालन करके राजा ने उन्हें सात दिनों के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस, राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने 'बलि यज्ञ' करने की घोषणा कर दी.... और जहाँ मुनिवरों का संघ ठहरा था, वहाँ चारों ओर हिंसा के लिए पशु और दुर्गन्धित हड्डियाँ, माँस, चमड़ी तथा लकड़ी के ढेर लगा दिये और उन्हें सुलगाने के लिए बड़ी आग लगा दी। मुनियों के चारों ओर अग्नि की ज्वाला भड़की। मुनिवरों पर घोर उपसर्ग हुआ।

लेकिन ये तो थे मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि भगवन्त! अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वे मुनिराज तो शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान करते रहे। बाहर में भले अग्नि भड़क रही हो परन्तु अपने अन्तर में उन्होंने क्रोधाग्नि जरा भी नहीं भड़कने दी। अग्नि की ज्वालाएँ धीरे-धीरे बढ़ने लगीं.... लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के जैन समुदाय को अपार चिन्ता होने लगी। मुनिवरों का उपसर्ग जब तक दूर नहीं होगा, तब तक सभी श्रावकों ने खाना-पीना त्याग दिया।

अरे, मोक्ष को साधनेवाले सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर भूमि भी मानों फट गई और आकाश में श्रवण नक्षत्र मानों काँप रहा हो। यह सब अन्य संघ में एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुँह से अचानक एक करुण आवाज निकली। आचार्य महाराज ने भी निमित्तज्ञान से जानकर कहा 'अरे! वहाँ



हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ पर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है और उन मुनिवरों का जीवन संकट में है।'

क्षुल्लकजी ने पूछा 'प्रभु, इनको बचाने का कोई उपाय है?'

आचार्य ने कहा 'हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है,जिससे वे अपने शरीर का आकार जितना छोटा या बड़ा करना चाहें, उतना कर सकते हैं; परन्तु वे तो अपनी आत्म-साधना में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अपनी ऋद्धि का भी पता नहीं और मुनियों पर आये हुए उपसर्ग की भी खबर नहीं है।'

यह सुनकर क्षुल्लकजी के मन में उपसर्ग दूर करने हेतु विष्णुकुमार मुनिराज की सहायता लेने की बात आई। आचार्यश्री की आज्ञा लेकर वे क्षुल्लकजी तुरन्त ही विष्णुकुमार मुनि के पास आये और उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बताकर प्रार्थना की 'हे नाथ! आप विक्रियाऋद्धि से यह उपसर्ग तुरन्त दूर करें।'

यह बात सुनते विष्णुकुमार मुनि के अन्तरङ्ग में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्य उमड़ आाय। विक्रियाऋद्धि को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त सम्पूर्ण मनुष्यलोक में वह लम्बा हो गया। वे तुरन्त हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई को, जो हस्तिनापुर के राजा थे, उनसे कहा – 'अरे भाई! तेरे राज्य में यह कैसा अनर्थ?'

पद्मराय ने कहा – 'प्रभु! मैं लाचार हूँ, अभी राजसत्ता मेरे हाथ में नहीं है।'

उनसे सम्पूर्ण बात जानकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सो मुनियों की रक्षा हेतु अपना मुनिपना थोड़ी देर के लिए छोड़कर, एक बौने ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलि राजा के पास जाकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तमोत्तम श्लोक बोलने लगे।

बलि राजा उस वामन पण्डित का दिव्यरूप देखकर और मधुर वाणी सुनकर मुग्ध हो गया।

'आपने पधारकर यज्ञ की शोभा बढ़ाई।' – ऐसा कहकर बलि राजा ने पण्डित का सम्मान किया और इच्छित वर माँगने को कहा।

अहो, अयाचक मुनिराज! जगत के नाथ!!.... वे आज स्वयं सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिए याचक बने! ऐसा है धर्म वात्सल्य!!

मूर्ख राजा को कहाँ मालूम था कि जिन्हें मैं याचना करने के लिए कह रहा हूँ, वे ही हमारे धर्म के दातार हैं और हिंसा के घोर पाप से मेरा उद्धार करनेवाले हैं।

उन ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार ने राजा से वचनानुसार तीन पग जमीन माँगी। राजा ने खुशी से वह जमीन नाप कर लेने को कहा। बस हो गया विष्णुकुमार का काम।

विष्णुकुमार ने विराटरूप धारण किया। विष्णुकुमार का यह विराटरूप देखकर राजा तो चकित हो गया, उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है।

विराट स्वरूप विष्णुकुमार ने एक पैर सुमेरुपर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर बलि राजा से कहा – 'बोल,



अब तीसरा पैर कहाँ रखूँ? तीसरा पैर रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर पग रखकर तुझे पाताल में उतार दूँगा।'

मुनिराज की ऐसी विक्रिया होने से चारों ओर खलबली मच गयी, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानों काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर श्री विष्णुकुमार की स्तुति की और विक्रिया समेटने के लिए प्रार्थना की। बलि राजा आदि चारों विष्णुकुमार मुनिराज के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगे 'प्रभु! क्षमा करो! हमने आपको पहचाना नहीं।'

श्री विष्णुकुमार ने क्षमाभावपूर्वक उन्हें अहिंसा धर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनिवरों की वीतरागी क्षमा बताकर उसकी महिमा समझायी और आत्मा के हित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय परिवर्तन हुआ और अपने पाप की क्षमा माँगकर उन्होंने आत्मा के हित का मार्ग अङ्गीकार किया।

अहा! विष्णुकुमार की विक्रियालब्धि बलि आदि की धर्म-प्राप्ति का कारण बन गयी, उन जीवों का परिणाम उस क्षण में पलट गया।

'अरे, ऐसे शान्त वीतरागी मुनियों पर हमने इतना घोर उपसर्ग किया। धिक्कार है हमें' – ऐसे पश्चातापपूर्वक उन्होंने जैनधर्म धारण किया।

इस प्रकार विष्णुकुमार ने साधर्मी वात्सल्यपूर्वक सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूँज उठी। तत्काल हिंसक यज्ञ बन्द हो गया और मुनिवरों का उपसर्ग दूर हुआ। हजारों

श्रावक परमभक्ति से सात सौ मुनिवरों की वैयावृत्य करने लगे, विष्णुकुमार ने भी स्वयं वहाँ जाकर मुनिवरों की वैयावृत्य की और मुनिवरों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की। वात्सल्य का यह दृश्य अद्भुत था।

बलि आदि मन्त्रियों ने मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्ति से उनकी सेवा की।

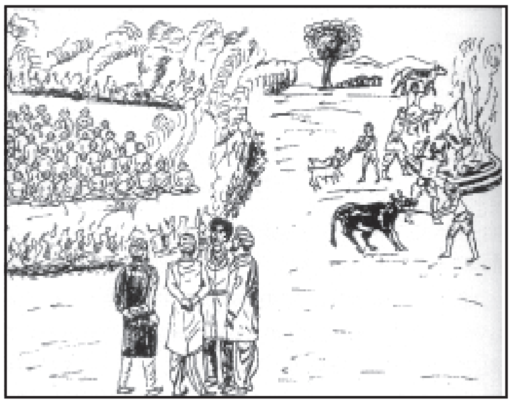

उपसर्ग दूर होने पर मुनिसंघ आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पहुँचा। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया, उसके बाद उन श्रावकों ने स्वयं भोजन किया। देखो, श्रावकों का भी कितना धर्म प्रेम! धन्य हैं वे श्रावक!... और धन्य हैं वे साधु!!

जिस दिन यह घटना घटी, उस दिन श्रावण सुदी पूर्णिमा का दिन था। विष्णुकुमार द्वारा महान वात्सल्यपूर्वक सात सौ मुनियों की तथा धर्म की रक्षा हुई, अत: वह दिन रक्षा पर्व के नाम से प्रसद्धि हुआ। आज भी यह दिवस रक्षाबन्धन पर्व के नाम से मनाया जाता है।

मुनियों पर आया उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने वामन पण्डित का वेष छोड़कर फिर से मुनिदीक्षा लेकर मुनिधर्म धारण किया और अपने आत्मा को शुद्धरत्नत्रयधर्म के साथ अभेद ध्यान



से ऐसा वात्सल्य प्रगट किया कि उन्होंने अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाया।

*बन्धुओं! श्री विष्णुकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें यह सिखाती है कि धर्मात्मा साधर्मीजनों को अपना समझ कर उनके प्रति अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वात्सल्य रखना चाहिए, उनके प्रति आदर-सम्मानपूर्वक हर प्रकार की मदद करनी चाहिए और उन पर कोई सङ्कट आये तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका निवारण करना चाहिए। इस प्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त प्रीतिसहित आचरण करना चाहिए। जिसे धर्म की प्रीति होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति प्रीति होती ही है। सच्चे आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि, अन्य धर्मात्मा पर आये सङ्कट को देख नहीं सकते।*

*संसारी जीवों की जैसी प्रीति अपने स्त्री-पुत्र-धनादि में होती है, वैसी प्रीति धर्म-धर्मात्मा एवं धर्मायतनों में होना ही 'धर्म वात्सल्य' है - ऐसा यथार्थ धर्म वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है। मुनिराज विष्णुकुमार की भी इसी कारण प्रशंसा की गयी है।*

*इस प्रकार श्रावण की पूर्णिमा के दिन मुनियों पर आया उपसर्ग दूर हुआ, जिससे मुनियों की रक्षा हुई। उसी दिन से यह दिन 'रक्षाबन्धन' के नाम से विख्यात हो गया।* ***वास्तव में कर्मों से न बँधकर स्वरूप की रक्षा करना ही सच्चा 'रक्षाबन्धन' है।*** ●

*-ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

# 10

# शीलवान सेठ सुदर्शन

इसी भरतक्षेत्र के बङ्गदेश के अन्तर्गत एक चम्पापुर नाम का पवित्र नगर है। वहाँ धात्रीवाहन राजा राज्य करता था। रानी का नाम अभयमती था। इसी नगर में वृषभदास नाम के एक श्रेष्ठी निवास करते थे। उनकी महाशीलवान पत्नि जिनमती थी।

सेठ के यहाँ सुभग नाम का एक ग्वाला था। एक दिन जब वह वन से घर के लिए वापिस आ रहा था कि अचानक एक दिगम्बर मुनिराज दिखाई दिये। उस समय सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हो चुका था। मौसम बहुत शीतल था, पशु-पक्षी ठण्ड से काँप रहे थे। मुनिराज को देखकर ग्वाले ने विचार किया कि ये नग्न मुनिराज ऐसे शीतकाल में रात्रि के समय कैसे जीवित रह सकेंगे? - ऐसा विचार करके उनके चारों ओर लकड़ियाँ लगाकर अग्नि जला दी और उनकी शीत-बाधा को दूर किया। स्वयं भी भक्तिभाव से सम्पूर्ण रात्रि उनके समीप बैठा रहा।

यद्यपि यह तो मुनिराज पर उपसर्ग था, पर अज्ञानी ग्वाले को क्या खबर थी कि मैंने कोई अपराध किया है। उसके हृदय में तो मुनिराज के प्रति अत्यन्त भक्ति-परिणाम था; अत: उस



भोले ग्वाले ने तो पुण्योपार्जन ही किया, क्योंकि उसके मन में छल का परिणाम न था और फल तो अभिप्राय का ही लगता है।

प्रात:काल सूर्योदय होने पर मुनिराज ने उस आसन्न भव्य ग्वाले की ओर दृष्टिपात किया। ग्वाला मुनिराज की दृष्टिमात्र से कृतकृत्य हो गया और भाव-विभोर हो उठा। मुनिराज ने उसे पात्रतानुकूल प्रत्येक कार्य में **'णमो अरिहंताणं'** इस मन्त्र वाक्य का जाप करने को कहा और स्वयं आकाशमार्ग से विहार कर गये। ग्वाले को उस मन्त्र वाक्य पर अनन्य श्रद्धा हो गयी। अन्तिम मरण समय में वह उसी मन्त्रोच्चारपूर्वक मरा और यह निदान किया कि सेठ के यहाँ ही पुत्ररूप से उत्पन्न होऊँ। ग्वाला इससे अधिक माँग भी क्या सकता था? थोड़े समय तक ही की गयी मुनिराज की सत्सङ्गति से ग्वाले का समस्त परिणमनचक्र बदल गया।

★ ★ ★

**'सत्पुरुष के वचन सुनना दुर्लभ है, उनकी श्रद्धा दुर्लभ है, विचारना दुर्लभ है तो अनुभवना दुर्लभ हो - इसमें क्या आश्चर्य? सत्सङ्ग की एक घड़ी जो लाभ दे सकती है, वह कुसङ्ग के करोड़ वर्ष भी नहीं दे सकते। सत्सङ्ग के बिना सारा जगत डूब गया। आत्मा पर जो सत्य रङ्ग चढ़ाये, वहीं वास्तविक सत्सङ्ग है। सत्सङ्ग आत्मा की परम-हितैषी औषधि है।'**

कुछ समय पश्चात् जिनमती के यहाँ कामदेव की सुन्दरता को भी लज्जित करनेवाला महारूपवान गुणवान पुत्र उत्पन्न हुआ

और उसका नाम गुणानुरूप ही सुदर्शन रखा गया। वह पुरोहित कपिल के साथ उत्तरोत्तर रूप और गुणों में वृद्धिङ्गत होने लगा। धीरे-धीरे उसके रूप-सौन्दर्य की चर्चा सर्वत्र फैल गई। युवावस्था आने पर सेठ वृषभदास ने अपने पुत्र सुदर्शन का विवाह एक अप्सरातुल्य रूपवान और गुणवान कन्या मनोरमा के साथ कर दिया। समयानुसार सुदर्शन के सुकान्त नाम का पुत्र हुआ। वह भी रूप-सौन्दर्य में अतुल्य था। सुदर्शन ने धीरे-धीरे उसे धर्म और विद्या में सुशिक्षित किया।

शीलवान सुदर्शन का जीवन ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत था। पराई माँ-बहिन देखकर उनके नेत्र झुक जाते थे। गृह में रहने पर भी उनका जीवन जल में कमलवत् निर्लिप्त था। ध्यान, स्वाध्याय और आराधना ही उनका व्यापार था। अपनी अन्तरङ्ग लक्ष्मी के अयाचीक लक्षपति थे। देह-सौन्दर्य और अटूट जड़-वैभव का संयोग तो उन्हें तृणतुल्य था।

युवावस्था आने पर उनका रूप सौन्दर्य निखर गया था और वह कामनियों के चित्त को लुभाने लगा था। कपिल ब्राह्मण की पत्नि कपिला का हृदय सुदर्शन के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त हो गया, 'वासना की आग' उसके हृदय में जलने लगी; वह उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगी।

एक दिन कपिल किसी कारणवश बाहर चला गया। उसी समय सुदर्शन कपिल के घर के समीप से कहीं जा रहे थे। कपिला ने उन्हें देख लिया और छल से मित्र के बीमार होने के बहाने उन्हें दासी के द्वारा घर बुलवा लिया। मित्र से मिलाने



के बहाने वह उन्हें एकान्त कमरे में ले गयी। सुदर्शन उसकी कुटिलता न जान पाये, क्योंकि –

**'स्त्री के वचन में अमृत और हृदय में हलाहल विष भरा होता है। स्त्री पर विश्वास करना-व्याघ्र, विष, चोर, सर्प और शत्रु पर विश्वास करने जैसा भयानक है।'**

जब वह अपने हाव-भाव से सुदर्शन को लुभाने की कोशिश करने लगी तो सुदर्शन कम्पायमान चित्त से डरकर बोले –

'देवी! मैं देखने में ही सुन्दर दिखता हूँ, परन्तु पुरुषार्थ से रहित हूँ। तुम जिस देह की चाम को देखकर मोहित हो रही हो, वह तो विष्टा के घड़े पर चढ़े स्वर्ण के वर्क समान घृणित है। इसका रोम-रोम महादुर्गन्धमय अशुचि मल-मूत्र का बना है। यह कच्चे घड़े के समान विनश्वर, अनेक रोगों का घर है। मल-मूत्र की खान – ऐसी अपवित्र देह तो वैराग्य का निमित्त है, इससे राग करना वृथा है।

**'अहो! इस संसार में पग रखना ही पाप है। इस देह पर मोहित होकर प्राणी संसार में अनन्त देह धारण करता हुआ परिभ्रमण करता है। देह का अनुराग ही देह धारण करने का कारण है। धन्य हैं वे, जो देह होने पर भी देह से विरक्त रहते हैं।'**

★ ★ ★

इस प्रकार सुदर्शन की बात सुनकर कपिला ने निराश होकर उन्हें छोड़ दिया। तब सुदर्शन मोह की दशा का विचार करते हुए घर आ गये।

कुटुम्बरूपी काजल की कोठरी में रहने से संसार बढ़ता है। चाहे जितना उसका सुधार करो, तो भी एकान्तवास में जितना संसार क्षय होनेवाला है, उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजल की कोठरी में होनेवाला नहीं है क्योंकि वह कषाय का निमित्त है। मोह के रहने का अनादिकालीन पर्वत है। जिन्दगी छोटी है और जञ्जाल लम्बा है।

– ऐसा विचार करते-करते सेठ सुदर्शन ने प्रतिज्ञा कर ली की अष्टमी और चर्तुदशी उपवास के दिन रात्रि में श्मशानादि एकान्त स्थान में जाकर ही आत्मसाधना करूँगा। अत: वे प्रत्येक पर्व के दिन प्रतिमायोग से निश्चल आत्मध्यान करके नियम का दृढ़ता से पालन करने लगे।

संसार तो उन्हें निरन्तर 'कारागृह' जैसा प्रतिभासित होता और उनका मन पिंजड़े के पंछी की तरह निरन्तर उससे छूटने के लिए तड़पता। वे यही विचार करते –

**'जिन्हें मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्यु से भागकर छूट सकते हैं – ऐसे हों अथवा मैं नहीं मरूँगा। – ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले सुख से सोये। इसलिए वे अपने कार्य में निरन्तर जागृत रहते।'**

एक बार बसन्तोत्सव के दिन राजा धात्रीवाहन अपनी रानी अभयमती के साथ उद्यान में जा रहे थे। रास्ते में सुकान्त पुत्र को गोद में लिए मनोरमा दिखी।

'यह सुन्दर पुत्रवाली महासौभाग्यवान किसकी स्त्री है' – रानी ने कौतुहलपूर्वक सखी से पूछा।



'यह सुदर्शन सेठ की वल्लभा मनोरमा है महारानी जी' – सभी ने कहा।

बीच में ही कपिला बात काटती हुई बोली – 'मैंने सुना है सुदर्शन नपुंसक है, उसके पुत्र कैसे हो सकता है?'

उत्तर में अभयमती ने कहा – 'ऐसा पुण्यशाली पुरुष नपुंसक कैसे हो सकता है? किसी ने दुष्ट अभिप्राय से वैसा कहा होगा।'

तब अवसर पाकर कपिला ने अपना सारा वृतान्त रानी को सुना दिया। रानी भी सुदर्शन के साथ भोग-भोगने के लिए उत्कण्ठित हो गयी, उसे भी कामरूपी सर्प ने डस लिया। वह सुदर्शन को फँसाने का षड़यन्त्र रचने लगी।

**'यह कामरूपी सर्प मानसिक सङ्कल्परूपी अण्डे से पैदा होता है। राग-द्वेष उसकी जिह्वाएँ हैं, विषय-चाह उसका तिल है, रति उसका मुख है, लज्जा उसकी काँचली है, जिसे वह छोड़ देता है, मद उसकी दाढ़ है, अनेक प्रकार की पीड़ा उसका जहर है – ऐसे कामरूपी सर्प से डसा प्राणी चैन को प्राप्त नहीं होता और अन्त में नाश को प्राप्त होता है।'**

'रानी ने प्रतिज्ञा कर ली की या तो उसके साथ भोग भोगूगीं, अन्यथा प्राण दे दूँगी। वह महल में जाकर उदास होकर शय्या पर पड़ गई।'

**'जहाज समुद्र के पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाश के पार पहुँचते हैं परन्तु स्त्रियों के दुश्चरित्र के पार कोई नहीं पहुँच सकता।'**

'पण्डिता धाय के पूछने पर रानी ने अपनी चिन्ता का कारण उसे बता दिया। पण्डिता धाय ने उसे अनेक प्रकार समझाया, पर वह न मानी। तब पण्डिता ने उसे मिलाने का वचन दे दिया। द्वारपालों को रानी का भय दिखाकर अष्टमी की रात को वह श्मशान पहुँच गई, जहाँ सेठ प्रतिमायोग से ध्यानस्थ थे। उसने अनेक मधुर वचनों से उन्हें आकृष्ट करना चाहा, पर वे तो सुमेरुवत् निश्चल खड़े थे। जब उसकी किसी कला-चातुर्य का असर उन पर न हुआ तो उसने उन्हें कन्धे पर उठा लिया और रानी के शयनागार में ले जाकर छोड़ दिया।'

★ ★ ★

**'पाप के उदय से कोई पापी नहीं होता, पापभाव से पापी होता है। ज्ञानियों के पाप का उदय तो होता है, पर पापभाव नहीं, उपसर्ग, वह ज्ञानियों के साधना की कसौटी है।'**

रानी ने अनेक प्रकार के हाव-भावों से स्त्री-सुलभ कुचेष्टाएँ कीं और अपनी वासना की आग सुदर्शन पर उड़ेल दी। पर जब वह उन्हें विचलित न कर सकी तो हताश होकर पण्डिता से बोली -

'इस दुष्ट को वहीं श्मशान में ले जाकर छोड़ आओ।'

पण्डिता ने बाहर दृष्टि की तो देखा, सबेरा हो चुका था। अब वे उन्हें बाहर लेकर नहीं जा सकती थी। क्या किया जाए? - यह सोचकर अभयमती किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। अन्त में जब उसे कोई उपाय न दिखा तो उसने स्वयं अपने शरीर को



नोंचकर विडरूप कर लिया और स्वयं जोर-जोर से चिल्लाने लगी - 'हाय! मुझ शीलवती के शरीर को इस दुष्ट ने क्षत-विक्षत कर दिया है।'

**'कामान्ध स्त्री, सिंहनी की तरह क्रूर और वेश्या की तरह निर्लज्ज हो जाती है, जो अनर्थ क्रूर सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा नहीं कर सकते; वह अनर्थ कामान्ध स्त्री कर देती है।'**

जब राजा को उक्त घटना की खबर पड़ी तो उसने आज्ञा दे दी - 'जाओ, इस दुष्ट को श्मशान में ले जाकर मार डालो।'

क्रूर सेवक सुदर्शन के बालों को खींचते हुए उन्हें श्मशान में ले गये और तलवारें निकालकर उन्हें मारने को उद्यत हो गये।

उपसर्ग! घोर उपसर्ग, अरे निरपराध ज्ञानियों की भी यह दशा!! जब दुष्ट अपने दुष्टस्वभाव को नहीं छोड़ते, तो ज्ञानी भी अपने क्षमास्वभाव को कैसे छोड़ें। उन्हें तो -

**बहु उपसर्ग करें उन पर न क्रोध हो,**
**वन्दे? चक्री तथापि कुछ न मान हो।**
**देह जाय पर माया होय न रोम में,**
**लोभ नहीं हो प्रबल सिद्ध निदान हो॥**

जैसे ही उन दुष्टों ने सुदर्शन को मारने के लिये तलवार से प्रहार किया तो वह गले का पुष्पहार बन गयी, उन्होंने जितनी बार प्रहार किये, उतने ही बार पुष्पहार बनते गये।

**विचित्र है पुण्य-पाप का नाटक! एक ओर प्रहार, दूसरी तरफ हार!**

तभी पुण्योदय से वन का देव वहाँ आ पहुँचा और उन दुष्टों को वहीं कीलित कर दिया। धीरे-धीरे यह समाचार सम्पूर्ण राज्य में फैल गया।

जब राजा ने सुना तो क्रोध से सेना लेकर वहाँ पहुँचा, देव ने सम्पूर्ण सेना को मूर्च्छित कर दिया और राजा को प्राणदण्ड देने को तैयार हो गया। राजा अपने कृत्य का पश्चाताप और क्षमायाचना करने लगा।

लज्जित होकर राजा सेठ सुदर्शन की शरण में पहुँचा और बोला – 'हे श्रेष्ठ! मुझे बचाओ, मैं प्राणों की भीख माँगता हूँ, मेरे अपराध को क्षमा करो, धर्म का प्रताप अतुल्य है, मैं वृथा नीचगति का पात्र हुआ।'

उधर रानी को जब उक्त घटना का पता चला तो लज्जा से दुःखी होकर उसने प्राणान्त कर लिया।

राजा उक्त घटना से बहुत प्रभावित हुआ और बोला – 'हे श्रेष्ठी! आप मेरे अर्द्धराज्य को स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिये।'

श्रेष्ठी बोले – 'हे राजन्! मैंने संसार का स्वरूप देख लिया। यह पञ्चेन्द्रिय के विषय, आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाले हैं।



इनमें रचकर तीन लोक के प्राणी नष्ट हो गये हैं। विषयों से सुख चाहना, वह जीवन के लिये विष पीना है, मिष्ट भोजन के लिये विषवृक्ष को सींचना है। मरण अचानक दबोच देगा, फिर यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, जिनेन्द्र धर्म का योग अनन्त काल में भी दुर्लभ हो जाएगा।

जैसे नदी की तरङ्ग निरन्तर चली जाती है, लौटकर वापिस नहीं आती; वैसे ही आयु, काय, रूप, बल, ऐश्वर्य, इन्द्रिय-शक्ति गये हुए वापस नहीं आते। कुटुम्ब का संयोग स्वप्नवत् क्षणभंगुर है और यह सम्पदा चक्रवर्तियों के पास भी स्थिर नहीं रही तो अन्य पुण्यहीनों के कैसे स्थिर रहेगी?

राजन्! इसलिए मैं तो अब आत्मसाधना पूर्ण करने के लिये दिगम्बरी दीक्षा धारण करूँगा।'

तब वे नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण कर पाटलिपुत्र (पटना) की ओर विहार कर गये।

हाँ, पाटलिपुत्र के उपवन के सुरम्य वातावरण में एक दिन ध्यानस्थ अवस्था में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और मुक्त हो गये।

**धन्य! धन्य!! हो गया वह आत्मा!!**

●

*– पण्डित राजकुमार शास्त्री*

# तीर्थधाम मङ्गलायतन : ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

**परम संरक्षक** – (1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश–प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

**संरक्षक** – (1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

**परम सहायक** – (1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

**सहायक** – (1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

## तीर्थधाम मङ्गलायतन

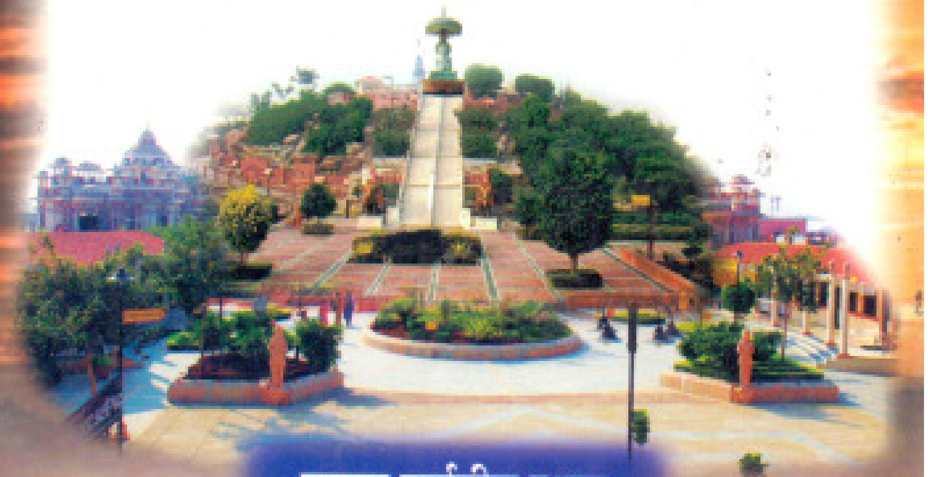

### प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ – कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा ( दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या )
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश
email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com
website : www.mangalayatan.com

## धन्य मुनिराज हमारे हैं

(खण्ड – 2)

ISBN No.
81-89824-01-5